I.S.S.N. 0975-6531

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

मई-जून 2026 * वर्ष 42 - अंक 3

श्री बदरीनारायण मंदिर

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता

श्री बदरिकाश्रम मंदिर के अन्य दर्शनीय स्थान

व्यास पोथी (व्यास गुफा के पास)

सरस्वती नदी (भूमिगत होकर अलकनंदा से संगम)। इसी नदी को पार कर पाण्डव स्वर्गारोहण के लिए हिमालय में चले गये थे।

ब्रह्मकपाल

तप्त कुण्ड

वसुधारा जलप्रपात

फुलों की घाटी (गंधमादन पर्वत)

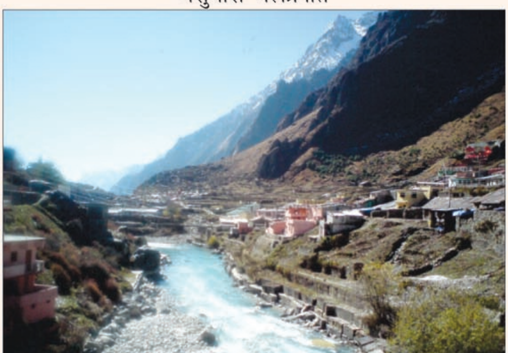
अलकनंदा नदी

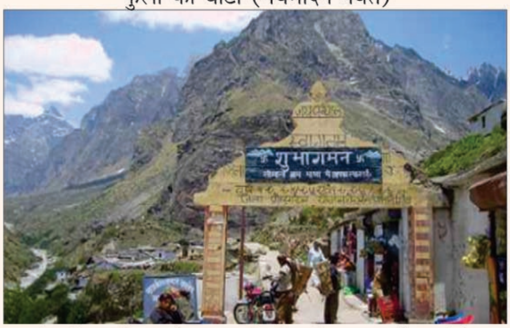

माणा गाँव (तिब्बत की तरफ से पहला भारतीय गाँव जहाँ व्यास गुफा में व्यासजी ने 8800 श्लोकों में 'जय' काव्य की रचना की जो फिर लगभग लाख श्लोकों का महाभारत हो गया।

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष व प्रधान-सम्पादक
डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा
सम्पादक
डॉ. बाबूलाल शर्मा
प्रबंध-सम्पादक
शंकरलाल सोमानी

I.S.S.N. 0975-6531 **वैचारिकी** वर्ष 42 : अंक 3

(धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला)

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित

● मई - जून 2026 ● वैशाख पूर्णिमा, - आसाढ़ कृष्ण 1 वि. सं. 2083

योगः कर्मसु कौशलम्

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** – 03
- **सम्पादकीय** (बदरीनारायण : भागवत-वैष्णव धर्म का प्रस्थान)– 06
- **विदेशों में भी श्रीराम उतने ही प्रिय रहे, जितने हमारे यहां पूजनीय** – देवदत्त पटनायक 15
- **रेकी : एक संपूर्ण आध्यात्मिक उपचार पद्धति** – सीताराम गुप्ता 19
- **अमेरिका में भारतीय योग विद्या के प्रचारक स्वामी रामतीर्थ** –डॉ. विद्यानंद ब्रह्मचारी 25
- **भारतीय इतिहास में लोकभाषा हिन्दी की कटूता पर विजय** –डॉ. सहदेवसिंह चौहान 29
- **मोहन राकेश के उपन्यास एवं कथा शिल्प** – डॉ. आशा बिष्ट 37
- **हिन्दी फिल्मों के गीतों में गूंजता देशभक्ति का स्वर** – रेमीसा सी यू 41
- **मुगल दरबार से जैन व्यापारियों के संबंध** – निशा भारद्वाज 45
- **अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह की विलुप्तप्राय जनजातियां : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण** –डॉ. कनिका भनोत 55
- **जयपुर की 'जीमण परंपरा' :एक सामाजिक अध्ययन**– वंदना भारद्वाज 60
- **भारतीय लघुचित्रों में प्रकृति चित्रण आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में** – शगुफ्ता काजी 63
- **मरुभूमि का हस्तशिल्प वैभव** – पुष्पा गोस्वामी 70
- **भ्रष्टाचार का दैत्य : कौटिल्य का अंकुश** – प्रो. राजेंद्र गर्ग 76
- **व्याख्यान : सनातन की पृष्ठभूमि में भागवत धर्म विशेष संदर्भ राजस्थान** (वक्ता- डॉ. बाबूलाल शर्मा) 80
- **पाठक मंच** 94
  - ▫ सोच समझ वालों को थोड़ी नादानी दे मौला

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700087
दूरभाष : 033-71001614
मो. : 09830559364
ई-मेल :
bvm.vaichariki@gmail.com
वेबसाइट :
www.bharatiyavidyamandir.com

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 750/- रुपये
द्वैवार्षिक 1500/- रुपये

सदस्यता शुल्क भेजने हेतु बैंक विवरण :-

A/c. Name :-
Bharatiya Vidya Mandir
Bank Name :-
State Bank of India
Current A/c. No.:-
32030320176
Branch :-
New Market, Kolkata
IFSC Code No. :-
SBIN0004662

- ■ प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- ■ प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
- ■ समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता होगा।

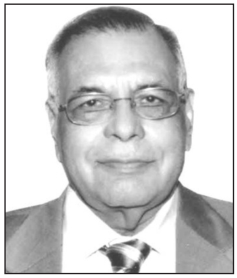

अध्यक्षीय

देश में पिछले 12 वर्षों के दौरान राजनीति एवं शासन -व्यवस्था में तीव्र परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों का प्रभाव हमारी संस्कृति, समाज तथा जीवन-मूल्यों पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम धीरे-धीरे ही सही अपनी सनातन संस्कृति की पहचान, उसके पुनर्मूल्यांकन और पुनर्निमाण की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं, यह एक स्वस्थ एवं सुदृढ़ समाज के निर्माण की दिशा में सकारात्मक कदम है।

हजारों वर्षों से संचित सांस्कृतिक संस्कारों के आधार पर भारतीय समाज आधुनिक युग में तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है। ऐसे समय में विचारों की स्पष्टता और सही दिशा-बोध अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा मार्ग से भटकने का भी भय बना रहता है, विशेषकर यह जरुरी है कि हम सुदृढ़ एकता बनाए रखें और सनातन मूल्यों का महत्व देते हुए राष्ट्रीय विचारों को अपनाएं, यहीं सही मार्ग है जो अपनी सनातन संस्कृति को बचाए रख सकती है साथ ही हम ऐसे सांस्कृतिक कार्यक्रमों को करते रहें जो समाज को सही दिशा देते रहें। सही मार्ग की दिशा में सार्थक प्रयास करने के उद्देश्य से भारतीय विद्या मंदिर निरंतर सक्रिय है। मैं संक्षेप में भारतीय विद्या मंदिर की प्रमुख गतिविधियों का परिचय प्रस्तुत करना चाहता हूं।

भारतीय विद्या मंदिर विगत 77 वर्षों से अनवरत कार्य करता आ रहा है। इसकी स्थापना सन् 1948 में एक रात्रि विद्यालय के रूप में हुई थी, किंतु समय के साथ यह एक बहुआयामी संस्था के रूप में विकसित हुई है। संस्था का उद्देश्य भारतीय संस्कृति के विविध आयामों, मानवीय-मूल्यों और संस्कारों के संवर्धन के साथ-साथ वैज्ञानिक चेतना और मानव के सर्वांगीण विकास पर केंद्रित समाज-सेवा है। हमारी संस्था की प्रमुख गतिविधियां निम्न प्रकार हैं।

व्याख्यान मालाएं–

■ **विज्ञान और समाज :** प्रख्यात खगोल-भौतिकीविद् एवं वैज्ञानिक डॉ. देवी प्रसाद दुआरी के मार्गदर्शन में देश के प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न वैज्ञानिक विषयों तथा विज्ञान के सामाजिक प्रभावों पर व्याख्यान एवं विचार-विमर्श आयोजित किए जाते हैं।

■ **स्वास्थ्य और स्वच्छता :** स्वास्थ्य संवर्धन तथा स्वच्छता के प्रति जागरुकता बढ़ाने के लिए प्रतिष्ठित चिकित्सकों द्वारा नियमित रूप से विभिन्न प्रकार के व्याख्यान आयोजित किए जाते हैं।

■ **पर्व-उत्सव और त्यौहार :** भारतीय समाज में बहुत से पर्व, उत्सव और त्यौहार आते हैं जिनका विशेष महत्व है। इस विषय पर पंडित शिवकिसन किराडू एवं अन्य विद्वानों द्वारा समय-समय पर व्याख्यान भी आयोजित किए जाते हैं, जिससे उनकी परंपरा, विधि, सांस्कृतिक

महत्व तथा वैज्ञानिक आधार पर परिचर्चा होती है। भारतीय संस्कृति संसद के सहयोग से विभिन्न त्यौहारों एवं पर्वों से संबंधित उत्सवों के आयोजन भी किए जाते हैं।

■ **पुराण-परिचय :** भागवताचार्य डॉ. आकाश शर्मा द्वारा विभिन्न पुराणों पर नियमित परिचयात्मक व्याख्यान आयोजित किए जाते हैं।

■ **लोक-साहित्य एवं लोक-संस्कृति :** लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति, लोक-संगीत तथा लोक-कला से संबंधित विषयों पर व्याख्यान एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम नियमित रूप से आयोजित किए जाते हैं।

■ **हिन्दी एवं संस्कृत-साहित्य :** हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य के विविध विषयों पर भी देश के प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा समय-समय पर व्याख्यान आयोजित किए जाते हैं।

■ **इतिहास एवं पुरातत्व :** इतिहास और पुरातत्व विषयों पर भी स्वनामधन्य शोधकर्ता डॉ. नीलेश एन. ओक, श्रीमती पूजा भट्ट आदि विद्वानों द्वारा व्याख्यान आयोजित किए जाते हैं।

■ **शास्त्रीय संगीत एवं लोक संस्कृति :** शास्त्रीय संगीत विषयों पर उत्कृष्ट शास्त्रीय संगीत कलाकारों द्वारा समय-समय पर कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं तथा लोक संस्कृति के क्षेत्र में भी अनुसंधान एवं कार्यक्रम का विस्तार किया जा रहा है। अभी हाल के कार्यक्रम में हुए जो अलग-अलग स्थानों के प्रकाण्ड विद्वानों का सहयोग भी हमें प्राप्त हुआ है। इस कार्यक्रम में श्रीमती रविप्रभा बर्मन, डॉ. बाबूलाल शर्मा, श्री प्रियंकर पालीवाल तथा अन्य विद्वानों का मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त है। यह भारतीय संस्कृति संसद के सहयोग से आयोजित किए जाते हैं तथा इस कार्यक्रम में हमारे परिवार और समाज के अन्य सदस्य भी भाग लेते हैं।

■ **संस्कृत साहित्य अध्ययन एवं अनुसंधान :** संस्कृत साहित्य एवं अनुसंधान संबंधी विषयों पर व्याख्यान तथा अध्ययन कार्यक्रम समय-समय पर आयोजित किये जाते हैं और संबंधित विषयों पर भाषण और परिचर्चा भी होते हैं।

अध्ययन केंद्र–

■ **पुराण एवं इतिहास अध्ययन केंद्र :** पुराणों तथा भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के अध्ययन एवं प्रकाशन हेतु अनुसंधानकर्ता कार्यरत हैं। इस कार्य में डॉ. आकाश शर्मा, प्रो. नृसिंह प्रसाद भादुड़ी, नीलेश एन. ओक जैसे विद्वानों का मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त है।

■ **पुष्टिमार्ग दर्शन एवं साहित्य :** पुष्टिमार्ग से संबंधित दर्शन, साहित्य एवं कला विषयों पर भी व्याख्यानमालाएं आयोजित की जाती हैं। इनमें आचार्य श्याम मनोहर गोस्वामी, आचार्य मिलन कुमार गोस्वामी, पं. रमेश शास्त्री 'उपमन्यु' और तुलसीदास शर्मा का मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त है। पुष्टिमार्ग विषयक पुस्तकों के प्रकाशन का भी कार्य चल रहा है।

■ **संगीत शिक्षण संस्थाएं :** संस्था से संबद्ध तीन संगीत शिक्षण संस्थाएं कार्यरत हैं– 1. पं. जसराज संगीत विद्यालय, मुम्बई, निदेशक पं. रतन शर्मा, 2. पं. जसराज संगीत विद्यालय, कोलकाता, निदेशक पं. सप्तर्षि चक्रवर्ती और 3. श्री मदन मोहन संगीत विद्यालय, बीकानेर (हवेल संगीत), निदेशक पं. नारायणदास रंगा। इन संस्थाओं में बालक एवं युवा वर्ग संगीत की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

शिक्षा केंद्र–

■ **संस्था द्वारा संचालित प्रमुख विद्यालय हैं :** 1. गिरधरदास मूंधड़ा पॉब्लिक स्कूल (जी.डी.एम.), 2. गिरधरदास मूंधड़ा बाल भारती विद्यालय। ये विद्यालय बीकानेर में स्थित हैं। इन दोनों विद्यालयों में माध्यमिक स्तर तक की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा कुशल शिक्षकों द्वारा प्रदान की जाती है।

■ **कौशल विकास प्रशिक्षण एवं अनुसंधान :** संस्था द्वारा कलकत्ता महानगर में संचालित कौशल विकास केंद्रों पर अनुभवी अभियंताओं, पर्यवेक्षकों एवं विशेषज्ञों द्वारा भवन निर्माण एवं इंफ्रास्ट्रक्चर्स के क्षेत्र से जुड़े कार्यरत श्रमिकों, पर्यवेक्षकों और अभियंताओं को व्यावहारिक तकनीकी प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। इससे अनेक लोगों

को रोजगारोन्मुखी कौशल प्राप्त हुआ है तथा इन प्रशिक्षणों से हमारे समाज बंधु काफी लाभान्वित हो रहे हैं, उनका जीवन स्तर बेहतर हो रहा है तथा समाज के लिए कुशल श्रमिकों की जो कमी महसूस हो रही थी उसकी पूर्ति में यह काफी सहायक है। इस कार्य को और अधिक व्यवस्थित बनाने के लिए एक नई संस्था भारतीय विद्या मंदिर इंस्टीट्यूट ऑफ अप्लाइड टेक्नोलॉजी की स्थापना प्रस्तावित है। इस दिशा में हमें कंस्ट्रक्शन डेवलपमेंट काउन्सिल का सहयोग भी प्राप्त है।

प्रकाशन–

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक 'वैचारिकी' पत्रिका का प्रकाशन पिछले 42 वर्षों से निरंतर हो रहा है। हमारे विद्वान संपादक डॉ. बाबूलाल शर्मा के संपादन में इसका निरंतर प्रकाशन हो रहा है। इसके साथ ही भारतीय विद्या मंदिर द्वारा धर्म-दर्शन, साहित्य, लोक-साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, संस्कृति एवं विज्ञान संबधी विषयों पर भी पुस्तकों का प्रकाशन हो रहा है। इस क्रम में अभी आर्टिफिसियल इन्टेलिजेन्स इन कंस्ट्रक्शन प्रोजेक्ट मैनेजमेंट अंग्रेजी भाषा में पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के सम्पादकद्वय डॉ. बी.डी. मूंधड़ा एवं सी.ए. नुरुल हसन हैं।

■ **सुखी जीवन (हिन्दी-बांग्ला) :** स्व. माधोदासजी मूंधड़ा की इस कृति का हिन्दी-बांग्ला द्विभाषिक संस्करण प्रकाशित किया गया है। इसी तरह इसका हिन्दी-गुजराती द्विभाषिक संस्करण प्रकाशित किया गया है। इसमें गुजराती अनुवाद डॉ. आर.एच. वाणकर द्वारा किया गया है।

■ **रसौ वै सः (हिन्दी-गुजराती) :** स्व. माधोदासजी मूंधड़ा की इस कृति का हिन्दी गुजराती द्विभाषिक संस्करण प्रकाशित किया गया है। उसमें डॉ. सुरेन्द्र कुमार आर. परमार ने गुजराती में अनुवाद किया है।

■ **शोडस ग्रंथ :** आचार्य मिलन कुमारजी गोस्वामी द्वारा रचित श्री वल्लभदास द्वारा अंग्रेजी में अनूदित यह ग्रंथ प्रकाशनाधीन है।

■ **पुष्टिमार्गीय कीर्तन :** पुष्टिमार्गीय कीर्तन पं. रमेश शास्त्री 'उपमन्यु' के द्वारा सम्पादित यह ग्रंथ प्रकाशनाधीन है।

■ **मनोदूतिका-** संस्कृत साहित्य का दूतकाव्य है, जो प्रकाशनाधीन है।

■ **भीष्म निर्माण (हिन्दी) :** श्री नीलेश एन. ओक द्वारा हिन्दी में अनूदित यह पुस्तक भी प्रकाशनाधीन है।

■ **नीति अनीति एवं दुर्नीति :** बांग्ला के यह ग्रंथ डॉ. नृसिंह प्रसाद भादुड़ी द्वारा रचित है जिसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशनाधीन है। इसके अतिरिक्त अनेक विषयों पर लेखन अनुवाद एवं अनुसंधान कार्य चल रहे हैं, जिनका परिचय आगामी अंकों में आपके सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा।

■ **कार्य कौशल प्रशिक्षण :** श्री श्री गोरखनाथ ठाकुरजी ट्रस्ट एवं जी.डी.एम. पॉब्लिक स्कूल के सहयोग से नवयुवकों को बागवानी, औषधीय पौधों, पूजा हेतु फूलों, रोजमर्रा हेतु साग-सब्जियों तथा फलोत्पादन का वैज्ञानिक एवं प्राकृतिक पद्यति से उपजाने की विधि का प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

सहयोगी एवं कार्यकर्ता-संस्था की प्रगति में अनेक विद्वानों, सदस्यों और कार्यकर्ताओं का योगदान उल्लेखनीय है। डॉ. बाबूलाल शर्मा, श्री शंकरलाल सोमानी, श्री प्रियंकर पालीवाल, श्री अमित व्यास, श्री घनश्याम कोठारी, श्री रमेश ठाकुर, श्री संजय सिंह, श्री जुगल पारीक, श्रीमती पूजा शर्मा, श्री अभिषेक शर्मा, श्री भाईलाल सोनी तथा अन्य अनेक सहयोगियों के पूरे मनोयोग व अत्यंत सराहनीय तत्परता से उक्त सभी कार्य एवं सेवाएं प्रगति पथ पर सुचारू रूप से चल रही है। इसके अतिरिक्त भी संस्था की अनेक गतिविधियां होती रहती हैं। अंत में प्रभु से प्रार्थना है कि उनका आशीर्वाद, विद्वानों का मार्गदर्शन और समाज-बंधुओं का पूरा सहयोग जो अब तक हमें मिलता रहा है और भविष्य में भी इसी प्रकार मिलता रहेगा, जिससे भारतीय विद्या मंदिर समाज एवं संस्कृति की सेवा में अपने उद्देश्य को और अधिक प्रभावी रूप से पूरा कर सकेगा।

– डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

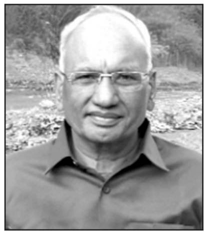

सम्पादकीय

बदरीनारायण : भागवत-वैष्णव धर्म का प्रस्थान

जून में हरिद्वार प्रवास में हम चारों में जब तय हो गया कि बदरीनारायण जाना है तो हिन्दू धार्मिकता में प्राचीन शैव, शाक्त यक्षादि परम्पराओं के क्रम में 'नारायण' के प्रवेश और उनसे प्रस्थान लेकर विकसित हुए भागवत धर्म (कृष्णोपासना) और उससे हुए वैष्णव धर्म के संबंध में और उनके प्रभाव को लेकर चिन्तन घुमड़ने लगा। बद्रीनाथ और केदारनाथ हिमालय के उत्तराखण्ड में दो मुख्य तीर्थस्थल हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से मध्यकालीन पूर्व गढ़वाल (गहड़वाल) राज्य में स्थित हैं। इसी तरह हिमालय में जिन स्थानों पर गंगा उतरी और यमुना उतरी, वे स्थान क्रमशः गंगोत्री तथा यमुनोत्री कहे जाने लगे। ये चार धाम अर्थात महान तीर्थस्थान माने जाने लगे जो लगभग 1200 वर्ष पूर्व इस क्षेत्र में उद्‌भट विद्वान अद्वैत दर्शन प्रवर्तक आचार्य शंकर के (जीवनकाल-788 से 820 ई.) भारत-भ्रमण करते हुए प्रवास करने से भारत-प्रसिद्ध हुए।

बद्रीनाथ और केदारनाथ सहित गढ़वाल का संपूर्ण पहाड़ी क्षेत्र महाभारत महाकाव्य की कथा से जुड़ा हुआ है। यद्यपि गढ़वालियों का महाभारत कथा का अपना संस्करण है जिसे वे 'पाण्डव लीला' नाम से प्रतिवर्ष प्रस्तुत करते हैं। इसके अनुसार युद्ध में विजय के पश्चात महाराज युधिष्ठिर ने कौरव पक्ष के पाँच वीरों दुर्योधन, भूरिश्रवा, कर्ण, द्रोण और अश्वथामा को पाँच गाँव जीवन यापन हेतु प्रदान किए, जबकि युद्ध से पूर्व पाण्डवों के पाँच गाँव माँगने पर दुर्योधन ने मना कर दिया था। गढ़वाल में इन पाँच वीरों को क्षेत्रीय देवता के रूप में पूजा जाता है। कुरुक्षेत्र युद्ध में पांडवों ने अपने चचेरे भाइयों कौरवों का वध किया था, अतः गोत्र हत्या के पाप से मुक्त होने के लिए भगवान शिव से प्रार्थना करने के लिए अपनी पत्नी द्रोपदी सहित पाण्डव-युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव हिमालय पर्वत के केदार खण्ड में गए। इनको देख कर इनके गोत्र हत्या जैसे भारी पाप को नहीं हरने की इच्छा से शिव ने बैल का रूप धारण किया (अन्य दन्तकथा में बैल की जगह भैंसा है) और दूर भागने लगे। पाण्डवों ने पीछा किया। जब बैल रूपी शिव भूमिगत होने लगे तो भीम ने उनका थूहड़ या कूबड़ पकड़ कर उनको रोक लिया। अंततः पांडवों की पूजा आराधना से प्रसन्न होकर शिव ने पाण्डवों को पाप से मुक्त कर दिया। फिर यह कूबड़ ही प्राकृतिक शिवलिंग के रूप में केदारनाथ नाम से पूजा जाने लगा। 11785 फीट की ऊंचाई पर केदार नाथ हैं। केदार का अर्थ थांवला, क्यारी, पर्वत, घास का मैदान है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्ण जन्म खण्ड 17 वां अध्याय) के अनुसार यहाँ केदार नामक राजा ने तपस्या की थी, उसी के नाम पर हिमालय के इस भाग का नाम केदार खण्ड हुआ। कहते हैं पाण्डवों ने केदारनाथ मंदिर का निर्माण करवाया था।

भगवान शिव का आशीर्वाद प्राप्त कर पाण्डव वापस अपनी राजधानी आए और धरती पर

कई वर्षों तक शासन कर धर्म की स्थापना की। पश्चात अर्जुन-पुत्र परीक्षित को राज्य सम्भलाकर सबकुछ का त्याग कर सशरीर स्वर्ग जाने के लिए हिमालय पर आए। जब वे स्वर्गारोहण के लिए पर्वत पर चढ़ रहे थे, उन्होंने एक पर्वत की ढलान पर बेर या बद्री (बदरी) के पेड़ के नीचे ध्यानस्थ बैठे विष्णु (नारायण) के दर्शन किये। इनको बद्रीनाथ-बदरीनारायण कहा जाने लगा।

हरिद्वार से बदरिकाश्रम के लिए प्रस्थान करने की तैयारी में महाभारत के वे प्रसंग मन में उभरने लगे जिनमें वर्णन है कि हिमालय के बदरीवन (बेरवन) में नर-नारायण तपस्यारत हैं। नारायण ने अपने परम भक्त नारद को अपने ईष्ट वासुदेव के दर्शनार्थ श्वेतद्वीप भेजा जहाँ नारद को चतुर्भुज वासुदेव के दर्शन एवं उनकी व्याप्ति का अनुभव हुआ। बदरीवन की एक गुफा में, वेदों का सम्पादन कर 'वेदव्यास' के रूप में प्रसिद्ध हुए ऋषि कृष्ण द्वैपायन ने कौरव-पाण्डव संघर्ष को लेकर 8800 श्लोकों में 'जय' काव्य का निर्माण किया। जिस प्रकार 'रामायण' के रचयिता महर्षि वाल्मीकि स्वयं भी रामकथा में एक भागीदार थे, वैसे ही महर्षि कृष्ण द्वैपायन भरतवंशी कौरवों-पाण्डवों की कथा में एक भागीदार ही नहीं अपितु वे दुर्योधनादि कौरवों एवं युधिष्ठिरादि पाण्डवों के जैविक पितामह थे। वे उस भीषण युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी थे जिसमें कौरवों का सम्पूर्ण विनाश हुआ तथा पाण्डव कुरु राज्य के अधिपति हुए। हो सकता है कि महाराज युधिष्ठिर एवं उनके भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव भाइयों तथा महारानी द्रौपदी ने वेद व्यासजी से 'जय' काव्य सुना हो। क्योंकि 36 वर्ष शासन के पश्चात अर्जुन पुत्र अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को राज्य सौंपकर वे सब बदरीवन आए और यहीं से आगे स्वर्गारोहण कर हिमराशि में जीवित समाधि लेली थी। 'रामायण' के अनुसार राम, भरत, लक्ष्मण ने भी सरयू नदी में जल समाधि ली थी। महाराज परीक्षित के बाद महाराज जन्मेजय के शासन काल में वेदव्यास के शिष्य वैशम्पायन ने 'जय' काव्य का 'भारत' (अर्थात भरत वंशी) नाम से चौबीस हजार श्लोकों में विस्तार किया जिसे कालांतर में सौती उग्रश्रवा ने महाभारत नाम से 96000 से अधिक श्लोकों में विस्तृत किया। महाभारत में कई अन्य धार्मिकताओं का भी समावेश है परंतु इसमें नारायण ही महान देवता के रूप में वर्णित हैं और इनकी उपासना पांचरात्र विधि से करणीय है। महाभारत में अर्जुन-कृष्ण को नर-नारायण के अवतार के रूप में इंगित किया गया है, कृष्ण की सेना को नारायणी सेना कहा गया है। वेदव्यास अपने 'जय' काव्य का प्रारंभ 'नारायण नमस्कृत्यं' से करते हैं। इस नारायण देवता का आविर्भाव कहां से हुआ? ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के रचयिता ऋषि नारायण हैं, तो यही ऋषि नारायण बदरीवन में तपस्यारत रहे और देवता रूप में पूज्य हुए? कुछ विद्वानों का मत है कि यह ईरानी देवता है और महाभारत में वर्णित श्वेतद्वीप ईरान है। जो भी हो, भारतीयों अथवा हिन्दुओं की धार्मिक प्रवृत्तियों में वैदिक, शैव, शाक्त आदि धर्मों के बाद नारायण एक विशिष्ट एवं भक्ति संवलित धार्मिक प्रवृत्ति के मूल स्रोत के रूप में वंदनीय हुए जिनसे भागवत धर्म (कृष्णोपासना) एवं उससे वैष्णव धर्म विकसित हुए। कृष्ण को नारायण के अवतार रूप में प्रतिष्ठित किया गया। बाद में नारायण एवं विष्णु को एकाकार किया गया और फिर विष्णु के अवतार प्रतिपादित हुए। सूर्योपासना में भी सूर्य को सूर्यनारायण कहा जाने लगा। इस क्रम में मेरा ध्यान पुराणों, उपपुराणों के साथ-साथ देश के विभिन्न स्थलों पर स्थित उपास्य मूर्तियों से संबंधित स्थल-पुराणों की ओर गया जो स्थल विशेष से संबंधित घटनाओं, विश्वासों एवं स्थानीय पण्डों के अपने धर्म-धंधे से उत्पन्न उद्‌भावनाओं के रूप में प्रचलित हैं। अतः हरिद्वार के बड़ा बाजार से बदरीनारायण अथवा बदरिकाश्रम से संबंधित पुस्तक खरीद ली जिसमें बदरी को बद्री लिखा गया था और शीर्षक था 'जय बद्री विशाल श्री बद्रीनाथजी की कथा'। पुस्तक में दी गई कथा का आवश्यक संक्षिप्त रूप इस प्रकार है–

पुराणों के अनुसार नारायण-विष्णु प्रभु अनंतकाल से क्षीरसागर में शेष शय्या पर विश्राम कर रहे थे और लक्ष्मीजी उनके चरण दबा रही थी। एक दिन देवर्षि नारद ने उलाहना दिया कि आप संसार के करता-धरता हैं, आपको इस तरह हर समय विलास पूर्ण आराम करते रहना शोभा नहीं देता, आपको तप करना चाहिए। नारायण को बात लग गई सो उन्होंने बहाना कर लक्ष्मी को नागलोक में नागकन्याओं के पास भेज दिया और स्वयं तप करने हिमालय की ओर चल पड़े। हिमालय के पाँच खण्ड बताये जाते हैं- नेपाल, कुमाऊँ (कूर्मांचल), केदार खण्ड, जलंधर (कोट-कांगड़ा) और

कश्मीर। केदार खण्ड के बद्रीवन क्षेत्र की रमणीयता से प्रभावित होकर नारायण ने यहां प्रवाहित अलकनन्दा नदी के तट पर तप करने का निश्चय किया। परंतु यहां शिवजी का आधिपत्य था, जो यहाँ देवी पार्वती के साथ निवास करते थे। यहाँ आधिपत्य करने के लिए नारायण ने युक्ति से काम लिया। शिव-पार्वती तप्त कुण्ड में स्नान करने जा रहे थे तो नारायण मार्ग में नन्हें शिशु बन कर लेट गए और रोने लगे। ममतामयी देवी पार्वती ने शिशु को गोद में उठा लिया और शिवजी के मना करने पर भी उसे अपने भवन में ले जाकर सुखवास में लिटा दिया और भवन का द्वार बंद कर कुण्ड पर आ गई। स्नान से निवृत्त होकर दोनों वापस आए तो देखा कि भवन का द्वार अंदर से बंद है। कई बार चेष्टा करने पर भी द्वार नहीं खुला तो शिवजी ने हँस कर कहा, देवी ! यहाँ नारायण ने आधिपत्य कर लिया है। फिर शिव-पार्वती यहां से ढाई योजन दूर स्थित पर्वत पर चले गए। वहाँ शिवजी 'केदारनाथ' नाम से पूजित हुए। बद्री क्षेत्र में नारायण योग-ध्यान मुद्रा धारण कर तपस्या में लीन हो गए (ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म खण्ड, एवं नारद पुराण का उत्तरार्द्ध, अध्याय 29-30)। नारदजी भगवान नारायण के बताए अनुसार पांचरात्र पद्धति से उनकी पूजा उपासना करने लगे (वराह पुराण अध्याय 66-68)।

जाड़ों में बद्रिकाश्रम में बर्फ गिरने लगती तो नारदजी 6 माह तक नारायण प्रभु की पूजा-अर्चना में लगे रहते, परंतु शेष 6 माह में जाड़ा नहीं रहने पर मनुष्यों द्वारा पूजा-अर्चना होने लगती तो नारदजी भ्रमण पर निकल जाते और जाड़ों में लौट आते। एक बार लौट कर आए तो आश्रम में नारायण नहीं थे। खोजते-खोजते प्यास से व्याकुल होकर भटकते एक कुटी पर पहुँचे जहाँ एक तपस्वी योगासन में बैठे थे। नारद ने जल की याचना की तो तपस्वी ने हाथ से धरती पर प्रहार किया, धरती फटी और उससे सहस्रों अप्सराएं एक चौड़े बर्तन में जल भरे प्रकट हुई और नारद से उस पात्र में स्नान कर जलपान हेतु अनुरोध किया। नारद उस पात्र में घुसे तो डूबते चले गए। बड़ी देर बाद एक रमणीक नगर आया जहाँ सभी लोग चतुर्भुज स्वरूप और शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा वनमाला धारण किए थे। नारदजी ने पूछा तो पता चला यह श्वेतद्वीप है जो श्रीहरि नारायण का निवास है। उनके बताने पर नारायण के श्वेतदीप में बैकुण्ठ धाम (बद्री क्षेत्र) पहुँच कर नारद ने भगवान श्रीमन्नारायण के दर्शन किये। नारायण ने पूजा पद्धति का उपदेश कर तीर्थयात्रा एवं जप-कीर्तन को भगवत्कृपा प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन बताया। नारदजी श्वेतद्वीप में पाँच रात्रि रहे अतः पांचरात्र पूजा पद्धति नाम पड़ा। उपदेश समाप्त होते ही नारदजी चौंके कि सारा दृश्य विलुप्त हो गया और उनके सामने केवल तपस्वी बाबा खड़े थे जो अब चतुर्भुज स्वरूप में स्वयं नारायण थे। नारायण फिर तपस्या में लीन हो गए और नारदजी उनकी पूजा-स्तुति में लग गए।

उधर लक्ष्मीजी नागलोक से वापस आयी तो शेष शय्या पर प्रभु नारायण को नहीं देख कर, उन्हें खोजती केदार खण्ड के बद्रीवन में पहुंची तो खुले में कड़ी धूप में नारायण को तपस्या करते देखा। भगवान को धूप से बचाने के लिए लक्ष्मीजी ने तत्काल बद्री (बैर) वृक्ष बन कर उन पर छाया कर दी। अतः ये बद्रीनारायण, बद्रीनाथ भी कहलाए। बद्री वृक्ष में लक्ष्मी का वास है और यह वृक्ष नारायण को अत्यंत प्रिय है। आज इस क्षेत्र में बद्री वृक्ष (बेर की झाड़ियां) नहीं हैं, परंतु महाभारत के वन पर्व के अध्याय 145 में यहाँ बद्री वृक्ष होने का वर्णन है। लक्ष्मीजी के साथ रखने के अनुनय पर श्रीनारायण ने उनको अपनी वामांगी (पत्नी) के रूप में रखना स्वीकार न कर उनको अपनी दाईं ओर अपनी दैवी शक्ति के रूप में स्थान दिया। इसी कारण बद्रीनाथ मंदिर के रावल (पुजारी) को भी अविवाहित रहना पड़ता है। बद्रीनाथ को बद्री विशाल भी कहा जाता है, क्योंकि ये विशाल पर्वत स्वरूप भी हैं और यहाँ अनेक तीर्थों एवं देवताओं का निवास है। यह भी कहा जाता है कि सूर्यवंशी राजा विशाल ने घोर तपस्या कर नारायण प्रभु को प्रसन्न कर वरदान प्राप्त किया था अतः उसका नाम बद्रीनाथ से जुड़ गया।

बद्रीनारायण के, बाद में सृष्टि क्रम में नर-नारायण नाम से अवतरित होने की कथा श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध की चतुर्थ अध्याय में तथा अन्य पुराणों में दी गई है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा जी ने दस मानस पुत्रों मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, कृतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारद तथा अपने दायें भाग से धर्म एवं पृष्ठ भाग

से अधर्म को उत्पन्न किया। दक्ष प्रजापति का विवाह मनु की पुत्री प्रसूती से हुआ जिससे 16 कन्यायें उत्पन्न हुई। इनमें से स्वाहा का अग्नि से, स्वधा का पितृगण से तथा सती का विवाह शिवजी से हुआ। शेष 13 श्रद्धा, मैत्री, दया, शांति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री (लज्जा) एवं मूर्ति का विवाह धर्म से हुआ। धर्म से मूर्ति के उदर से नर और नारायण पुत्र उत्पन्न हुए। बड़े होकर दोनों माता से आज्ञा लेकर बद्रीवन में जाकर तपस्या करने लगे। देवराज इन्द्र ने नर-नारायण की तपस्या भंग करने के लिए अप्सराओं को भेजा। तब नारायण ने अपनी उरु (जांघ) से, उनसे भी अधिक सुंदर अप्सरा उत्पन्न कर इंद्र को भेंट देने को दी। यह उर्वशी नाम से प्रसिद्ध हुई। इस पर सब अप्सराओं ने स्वयं को दासी रूप में स्वीकार करने की विनती नारायण से की। नारायण ने कहा अभी यह संभव नहीं है, परन्तु द्वापर में मेरे कृष्ण अवतार में तुम लोग गोपियों के रूप में अवतरित होओगी तब मैं तुम्हारी यह कामना पूर्ण करूँगा। जिस पर्वत पर नर ने तपस्या की वह नर और जिस पर नारायण ने तपस्या की वह नारायण कहलाने लगा। दोनों पर्वतों के मध्य अलकनन्दा प्रवाहित है। नारायण पर्वत पर, श्रीबद्रीनाथ का भव्य भवन है जबकि नर पर्वत पर आवासीय भवन हैं।

श्रीमन्नारायण सतयुग में बद्रिकाश्रम में साक्षात निवास करते थे। त्रेता में ऋषिगण योगाभ्यास से उनके दर्शन करते थे। द्वापर में नारायण कृष्णावतार धारण करने जाने लगे तो ज्ञाननिष्ठ ऋषियों के अनुरोध पर उन्होंने कहा कि अलकनंदा में नारद शिला के नीचे मेरी दिव्य मूर्ति है उसको निकाल कर स्थापित करो, इसके दर्शन से मेरे साक्षात दर्शन का फल प्राप्त होगा। अभी बद्रीनाथ मंदिर में पूजान्तर्गत बद्रीनारायण का श्यामल विग्रह शालिग्राम शिला से बना हुआ है। इसका निर्माण कब किसके द्वारा हुआ इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। स्कन्द पुराण के बदरी माहात्म्य अध्याय 5 श्लोक 24-25 में उल्लेख है कि नारायण ने कहा- मैं नारद कुण्ड से मूर्ति को, संन्यासी के रूप में आकर उसे निकाल कर स्थापित करूंगा। लगभग 1200 वर्ष से अधिक पूर्व अभूतपूर्व अद्भुत मेधा सम्पन्न आचार्य शंकर का आविर्भाव दक्षिण भारत के केरल में हुआ। अल्पायु में ही आप सम्पूर्ण भारत में शास्त्रार्थ में दिग्विजयी हुए। आचार्य शंकर शिष्यों सहित तीन माह की दुर्गम यात्रा कर 10244 फीट की ऊंचाई पर हिमालय के बद्री क्षेत्र में पहुंचे। तप्त कुण्ड में स्नानादि से निवृत्त हो आप बद्रीनारायण मंदिर में नारायण विग्रह के दर्शनार्थ गए तो देखा कि वहां विग्रह न होकर शालिग्राम शिला को ही नारायण रूप में पूजा जाता है। पूछने पर पुजारियों ने बताया कि बहुत पहले चीनी दस्यु यहाँ लूट-पाट करने आए तो हमारे पूर्व पुरुषों ने श्रीनारायण विग्रह को किसी कुण्ड में छिपा कर रख दिया। पश्चात कई बार प्रयास किया गया परंतु वह नहीं मिला। तब से इस शालिग्राम शिला की ही नारायण रूप में पूजा अर्चना की जा रही है। यह सुन कर आचार्य शंकर ध्यान मग्न हो गए और फिर शान्त चित्त हो नारद कुण्ड पर आकर उसमें उतरने लगे। तब विचलित होकर पुजारी लोग चिल्ला पड़े कि यतिवर इस कुण्ड का अलकनन्दा से संयोग है, अतः आप नदी के गर्भ में खिंच सकते हैं, अनेक के साथ ऐसा हो चुका है। तथापि आचार्य ने कुण्ड में गोता लगा दिया और थोड़ी देर में चतुर्भुज नारायण की मूर्ति लिए बाहर आ गए। परंतु ठीक से देखने पर पता चला कि मूर्ति के दक्षिण हस्त की कुछ अंगुलियां खंडित हैं, अतः उसे अलकनन्दा में विसर्जित कर दिया। फिर कुण्ड में गोता लगाया तो वही मूर्ति हाथ लगी। तीसरे प्रयास में भी वही मूर्ति मिली तो आचार्य ने ध्यानस्थ होकर निर्णय किया कि यहाँ इस भग्न विग्रह की ही पूजा अर्चना होगी। आचार्य शंकर ने स्वयम् यथा विधि इस विग्रह की स्थापना की और अपने साथ के एक दक्षिण भारतीय नम्बूद्री ब्राह्मण को यहां प्रधान पुजारी नियुक्त किया जिसे रावल कहा जाता है। आज भी यह परम्परा विद्यमान है।

बद्रीनारायण को तिब्बत के लामा लोग आदि बद्रीनाथ कहते हैं। तिब्बत में भारतीय सीमा से लगा हुआ थोलिंगमठ नामक बौद्धों का बहुत बड़ा धार्मिक स्थान है। कहते हैं पहले इसी में बद्रीनारायण की मूर्ति विराजमान थी और यही बद्रीनारायण मंदिर था। तिब्बतवासी हिन्दू थे और उनके लामा (पुजारी) श्रीमन्नारायण की पूजा करते थे। किंवदंती है कि कालान्तर में यहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा तो नारायण इस मंदिर की छत को फाड़ कर

निकल श्यामकर्ण घोड़े पर सवार हो नीचे स्थित माणा गाँव (मणिभद्रपुर) आए (माणा गाँव के सामने वाले पहाड़ में घोड़े की स्पष्ट आकृति दिखती है), वहाँ से पैदल आकर बद्रीवन में विराजमान हो गए। तात्पर्य यह कि किसी ने इस मूर्ति को उक्त मठ से निकाल यहाँ लाकर स्थापित कर दिया। तिब्बत में स्थित नारायण मंदिर, जिसे थोलिंगमठ कहा जाता है में इस समय भगवान बुद्ध की विशाल मूर्ति स्थापित है जिसके पैर नीचे की मंजिल में हैं, धड़ ऊपरी मंजिल में है और सिर छत से बाहर निकला हुआ है। इसी से उक्त किंवदंती प्रचलित हुई लगती है। तिब्बत के लामा लोग नारायण के प्रति अपनी आस्था को भूले नहीं हैं जिससे उनकी तरफ से अभी भी प्रतिवर्ष चाय, चँवर, ऊनी वस्त्र आदि बद्रीनाथ को भेंट स्वरूप भेजे जाते हैं और यहां से उनको प्रसाद भेजा जाता है।

हरिद्वार से बदरिकाश्रम की लगभग 350 कि.मी. की यात्रा के लिए कार से प्रस्थान कर दिया गया। इस मार्ग में पाँच स्थानों पर नदियों के संगम हैं, जहाँ भी नदियों का संगम होता है उसे प्रयाग कहा जाता है अर्थात विशेष याग (यज्ञ) सा पवित्र। 93 कि.मी. की दूरी तय होने पर देव प्रयाग पहुँचे जहाँ भागीरथी नदी के उज्ज्वल नीलाभ और बदरिकाश्रम से आ रही नदी अलकनन्दा के मटियाले जल के संगम के दर्शन किए। यहाँ से इस संगमित जल प्रवाह का नाम गंगा हो जाता है। यहाँ उत्तराखंड में विरल श्रीराम मंदिर (रघुनाथ मंदिर) में काले पत्थर से निर्मित भगवान राम की मूर्ति है। मंदिर 14वीं-15वीं शताब्दी का लगता है जिसके भूकंप से क्षतिग्रस्त होने पर इसका 1803 ई. में ग्वालियर के सिंधिया शासक ने जीर्णोद्धार कराया था। पंडा बताता है कि यहां किसी देव शर्मा ने तपस्या की थी जिससे इसका नाम देवप्रयाग हुआ। ब्राह्मण रावण का वध करने से लगे ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होने के लिए राम यहाँ आए थे। यहाँ से आगे बढ़ कर श्रीनगर में अलकनंदा पर स्थित धारी या धारणी माता का दर्शन किया। मंदिर में देवी का शीश पूजान्तर्गत है। देव प्रयाग से 84 किमी. पर रुद्रप्रयाग है जहाँ अलकनंदा और मन्दाकिनी का संगम है। यहाँ प्राचीन शिव (रुद्र) मंदिर तथा चामुंडा मंदिर है। मान्यता है कि यहाँ महर्षि नारद ने तपस्या कर भगवान शिव से संगीत की शिक्षा एवं वीणा प्राप्त की थी। रुद्रप्रयाग के बाद के हिमालय को देवभूमि और रुद्र हिमालय कहा जाता है। यहाँ से 31 कि.मी. की दूरी पर कर्ण प्रयाग है जहाँ अलकनंदा और पिंडर नदी का संगम है। मान्यता है कि यहाँ कुन्ति पुत्र कर्ण ने तपस्या कर अमोघ शक्तियां प्राप्त की थी। कहा जाता है कि यहाँ आकर स्वामी विवेकानन्द ने भी कई दिन तक योग-ध्यान किया था। यहाँ उमा देवी का मंदिर है। कर्ण प्रयाग से 22 कि.मी. पर नन्द प्रयाग है जहाँ अलकनन्दा और नन्दाकिनी का संगम है। कहते हैं प्राचीनकाल में यहाँ राजा नन्द ने तपस्या कर महायज्ञ किया था जिससे इसे नन्द प्रयाग कहा जाने लगा, परंतु इससे पूर्व इसे कण्वासु कहा जाता था क्योंकि यह महर्षि कण्व की तपस्थली भी थी। यहीं ऋषि विश्वामित्र तथा अप्सरा मेनका की पुत्री शकुन्तला और महाराज दुष्यंत के पुत्र भरत का जन्म हुआ था। यहाँ से 1875 मीटर (6150 फीट) की ऊंचाई पर स्थित जोशी मठ निकट है जो बद्रीनाथ यात्रा में एक महत्वपूर्ण पड़ाव है जो आचार्य शंकर द्वारा स्थापित उत्तरी शंकराचार्य-पीठ है, यहाँ शीतकाल के 6 माह में बद्रीनारायण की चल मूर्ति की सेवा पूजा होती है। जोशी मठ से 12 किमी. पर विष्णु प्रयाग है जहाँ अलकनन्दा और धोली नदी के संगम का प्रचंड प्रवाह है। यहाँ प्राचीन विष्णु मंदिर और विष्णु कुण्ड है। यहाँ से बद्री क्षेत्र में प्रवेश प्रारम्भ हो जाता है। विष्णु प्रयाग के दाहिने पर्वत को नर और बायें पर्वत को नारायण कहा जाता है। विष्णु प्रयाग तक अलकनन्दा दो पहाड़ों की संकरी घाटी के बीच से प्रवाहित होती है। इन दोनों पहाड़ों को वैकुण्ठ के द्वारपाल जय-विजय माना जाता है। विष्णु प्रयाग को स्वर्गारोहण का प्रवेश द्वार कहा जाता है। यहाँ हाथी की आकृति का पहाड़ है जिसे गजेन्द्र मोक्ष कहा जाता है। इनके पीछे पटसिला घाटी है, कहा जाता है कि कालान्तर में ये दोनों पहाड़ मिल जाएंगे तब बद्रिकाश्रम की समयावधि पूर्ण होकर वहां जाने का मार्ग बंद हो जाएगा। तब भविष्य बद्री में बद्रीनारायण की पूजा होगी। भविष्य बद्री मंदिर में एक शिला पर नारायण का आधा आकार प्रकट हुआ दिखाई देता है। कहते हैं इसके पूर्ण होने पर विष्णु प्रयाग में स्थित नर-नारायण पर्वत आपस में मिल जाएंगे जिससे बद्रिकाश्रम जाने का मार्ग

बंद हो जाएगा तब भविष्य बद्री में नारायण की पूजा होगी। भविष्य बद्री जोशी मठ से 25 कि.मी. दूर तपोवन में 2744 मीटर की उंचाई पर है। यहाँ बदरिकाश्रम की अलकनंदा की तरह धौली गंगा प्रवाहित है जिसमें गर्म जल के अनेक स्रोत भी हैं। इस क्षेत्र में बद्रीनारायण एवं भविष्य बद्री के अलावा चार बद्री और हैं। बद्रीनाथ धाम से 23 कि.मी. पहले 1920 मीटर की ऊँचाई पर पाण्डुकेश्वर मंदिर है जिसमें ध्यानस्थ विष्णु मूर्ति है जिससे इसे योगध्यान बद्री कहते हैं। मान्यता है कि यहाँ महाराज पाण्डु ने कुन्ती से विवाह किया था। वृद्ध बद्री जोशी मठ से 8 कि.मी. पहले 1380 मीटर की उंचाई पर अनीमठ में है जहाँ लक्ष्मी-नारायण का मंदिर है। मान्यता है कि यहाँ भगवान नारायण ने नारद जी को वृद्ध के रूप में दर्शन दिया था और आचार्य शंकर ने यहाँ पूजा-अर्चना की थी। आदि बद्री कर्णप्रयाग से 19 कि.मी. की दूरी पर है। पिरामीड के आकार में बने आदि बद्री मंदिर में लगभग एक मीटर की उँचाई की काले पत्थर की नारायण मूर्ति स्थापित है। यहाँ गुप्तकालीन सोलह मंदिरों का समूह है जो अब खण्डहर बन चुके हैं। मान्यता यह है कि इनका निर्माण आचार्य शंकर ने करवाया था।

हरिद्वार से लगभग 350 किमी की यात्रा कर बदरिकाश्रम पहुंचते रात हो गई। 10000 फीट से अधिक की उँचाई पर भारी ठंड, उसमें वर्षा, सो एक भोजनालय में फटाफट खा-पीकर गेस्ट हाउस में आकर भारी भरकम रजाइयों में दुबक गए। सुबह खिली धूप देख कर सब हर्षित हो उठे। हिमाच्छादित पर्वत शृंखलाओं के बीच बदरीवन के दो पर्वत 'नर' और 'नारायण', जिनके बीच से अलकनंदा उच्च स्वर से प्रवाहित है जिस पर पुल बना हुआ है। नर पर्वत पर होटल, गेस्ट हाउस, भोजनालय,पार्किंग, बाजार आदि और नारायण पर्वत पर केवल बदरीनारायण या बदरीनाथ का मंदिर। वस्तुतः ये दोनों पर्वत ही साक्षात नर-नारायण हैं। स्नान के लिए नीचे उतर पुल पार कर अलकनंदा के किनारे तप्त कुंड पर गए, परंतु वहां कसमसाती भीड़ को देखकर वापस आ गए। तब गेस्ट हाउस के सेवादार ने तप्त कुंड से तप्त जल मंगवा दिया। स्नानादि से निवृत्त हो मंदिर के लिए प्रस्थान किया जहां भारी भीड़ की लम्बी लाइन लगी थी, जिसमें लगने का साहस हम लोग जुटा नहीं पा रहे थे। धक्के खाते मंदिर के मुख्य द्वार के सामने के प्रांगण में पहुंच गए जहां पहाड़ी देवी-देवता, नृत्यरत भक्तों के कंधों पर विराजे प्रभु बदरीनारायण का वंदन कर रहे थे। कुछ देर इधर उधर भटक कर मंदिर-प्रवेश का जुगाड़ बैठाने की चेष्टा में मंदिर के प्रसाद घर की तरफ से घुसने की प्रतीक्षा करते रहे परंतु सफलता नहीं मिली। वापस दर्शनार्थियों की लाइन की बगल में वहाँ आ खड़े हुए जहाँ मंदिर में कर्मचारियों के लिए आवागमन का द्वार था, शायद वहाँ से कोई जुगाड़ बैठ जाये, हालांकि वहाँ पुलिसकर्मियों का खासा जाब्ता था। मेरे साथियों ने मुझ वरिष्ठ नागरिक का हवाला देकर वहाँ खड़े सुरक्षा-अधिकारी से अनुनय विनय किया, परंतु बात नहीं बनी। अंततः परेशान होकर 'कल देखेंगे' का निर्णय कर लौटने वाले थे कि पता नहीं क्या हुआ कि अचानक सुरक्षा अधिकारी ने चलो-चलो कहकर मुझे धकेला और पीछे-पीछे साथियों को भी, कि हम थकित-चकित धक्कम धक्का सीढ़ियां चढ़ते हुए मंदिर के मुख्य प्रांगण में थे।

बद्रीनाथजी के वर्तमान मंदिर का निर्माण 15 वीं शताब्दी में, रामानुज सम्प्रदाय के स्वामी बद्राचार्य की प्रेरणा से गढ़वाल नरेश ने करवाया था, पश्चात 18वीं शताब्दी में इन्दौर की शासक सुप्रसिद्ध महारानी पुण्यश्लोक अहल्याबाई होल्कर ने यहाँ स्वर्ण कलश छतरी बनवाई। अलकनन्दा नदी के दक्षिणी तट पर नारायण पर्वत में स्थित इस मंदिर को महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने मुगल शैली में निर्मित बताया है। तराशे हुए पत्थरों से निर्मित यह मंदिर 50 फीट ऊंचा है जिसका दुमंजिला सम्मुख भाग और उसमें स्थित सिंहद्वार विभिन्न रंगों से चित्रित हैं। सिंहद्वार में भारतीय सेना की गढ़वाल राइफल्स द्वारा अर्पित विशाल घंटा लटक रहा है। सिंहद्वार तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां बनी हैं, फिर सिंहद्वार में से भी सीढ़ियां चढ़ कर सभामंडप में पहुंचते हैं। सभामंडप में सामने गर्भगृह है जो वस्तुतः प्राचीन नारायण-मंदिर है। यह बाहर से 17 फिट 5 इंच लम्बा और 15 फीट चौड़ा है और अंदर से 13 फीट लम्बा तथा 8 फीट 10 इंच चौड़ा है। इसके चारों ओर 15वीं शताब्दी में वर्गाकार में आँगन छोड़ कर कक्षों, बरामदों का निर्माण करा मंदिर परिसर का निर्माण किया गया है।

गर्भगृहस्थ बद्रीनारायण मूर्ति, नेपाल की गंडकी अथवा नारायणी नदी से प्राप्त शालिग्राम शिला से निर्मित है। पद्ममासन में बैठे नारायण ध्यानस्थ हैं। मूर्ति द्विभुजी है, जबकि पुराणादि एवं दंतकथाओं में नारायण को चतुर्भुज कहा गया है। मूर्ति के दायें हाथ की अंगुलियां खण्डित हैं। बहुत से विद्वानों का मानना है कि वस्तुतः यह भगवान बुद्ध या बोधिसत्व की मूर्ति है। वस्त्रालंकारों से सज्जित मूर्ति के लक्षणादि के बारे ज्यादा कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान नारायण के समीप धनपति कुबेर तथा नीचे की ओर भगवान के प्रधान अर्चक नारद विराजे हैं। पास में चतुर्भुज नारायण की चल या उत्सव मूर्ति (उधवजी) विराजमान है जो बद्रीनारायण का प्रतिनिधि स्वरूप है, जिसकी जाड़ों के छह महीनों में नीचे लगभग 6000 फीट की ऊंचाईं पर स्थित जोशीमठ में सेवा-पूजा होती है, जब बद्रिकाश्रम हिमाच्छादित हो जाता है। भगवान नारायण के दाईं ओर नर-नारायण भाइयों की मूर्तियाँ हैं। इनके पास ही भगवान नारायण की पत्नियाँ श्रीदेवी एवं भूदेवी की मूर्तियां हैं। मूर्तियों के इस समूह को बद्री-पंचायत कहा जाता है। मंदिर के मुख्य द्वार पर गरुड़ की मूर्ति है। मंदिर के परिक्रमा परिसर में छोटे-छोटे मंदिर हैं जिनमें हनुमान, गणेश-लक्ष्मी, देवी धारा, कर्ण आदि की मूर्तियाँ हैं। गर्भगृह के पीछे बांयी ओर शंकराचार्य, हनुमान की मूर्तियाँ हैं। लक्ष्मी मंदिर के बगल में भोगमण्डी है जहाँ भोग (चावल आदि) पकता है जो भगवान को अर्पण के पश्चात वितरित होता है। सामने मंदिर का कार्यालय है जिसमें शंकराचार्य की गद्दी तथा संगमरमर से निर्मित उनकी सुन्दर मूर्ति है। मंदिर में दाहिनी ओर बिना धड़ की घंटाकर्ण की मूर्ति है जिसे मंदिर का कोतवाल माना जाता है। हरिवंश पुराण के अनुसार यह एक शिवभक्त पिशाच था जो नारायण का नाम कानों में नहीं पड़ जाये इसलिए अपने कानों में घंटे बांधे रखता था। अपनी तपस्या से प्रसन्न कर शिवजी से इसने मुक्ति का वर मांगा तो शिवजी ने इसे नारायण के पास भेजा। नारायण ने उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसे अपनी सायुज्ज मुक्ति प्रदान कर अपने आश्रम का कोतवाल नियुक्त कर दिया।

लगभग 3583 मीटर की ऊंचाई पर पवित्र बदरी वन क्षेत्र को 12 कोस (36 कि.मी.) चौड़ा तथा 48 कोस (144 कि. मी.) लम्बा बताया जाता है जिसमें ब्रह्मकपाल, गन्धमादन, बदरी क्षेत्र, नर-नारायण आश्रम, कुबेर शिला, वह्नि (अग्नि) तीर्थ तप्तकुण्ड, नारद कुण्ड, नरसिंह शिला, नारायण कुण्ड, वसुधारा, सोमतीर्थ, मुचकुन्द कुण्ड व गुफा, उर्वशी कुण्ड, व्यास तीर्थ, केशव प्रयाग आदि तीर्थ हैं। बद्रीनारायण मंदिर के सिंहद्वार से तप्तकुण्ड की ओर सीढ़ियों से उत्तरते हैं तो दाहिनी ओर शंकराचार्य मंदिर है जिसमें शंकराचार्य लिंग रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस मंदिर से नीचे की तरफ आदि केदारनाथ मंदिर है। मान्यता है कि यहाँ केदारनाथ के दर्शन कर बद्रीनाथ के दर्शन करने से बद्रीनाथ प्रसन्न होते हैं। बदरिकाश्रम में अलकनन्दा के तट पर स्थित तप्त कुण्ड को वह्नि (अग्नी) तीर्थ भी कहते हैं जिसमें स्नान का भारी महत्व बताया जाता है। तप्तकुण्ड से नीचे की तरफ बड़ी-बड़ी शिलाओं के बीच नारद कुण्ड है जिसमें केशव आदि की 50 मूर्तियां विराजमान बताई जाती हैं। इससे नीचे की तरफ ब्रह्मकुण्ड, गौरीकुण्ड और सूर्यकुण्ड हैं। भागीरथी नदी को विष्णुपदी (विष्णु के पैर से निकली) कहा जाता है परंतु बदरिकाश्रम में बताया गया कि पुराणों में अलकनंदा को ही विष्णुपदी कहा गया है (भागीरथी को नहीं) जिसमें स्नान का अक्षय फल है।

बदरिकाश्रम में बद्रीनाथ मंदिर के निकट तप्तकुण्ड के ऊपर पंच शिलाएं- नारद शिला, वराह शिला, नृसिंह शिला, गरूड़ शिला और मार्कण्डेय शिला स्थित हैं। मान्यता है कि केदारनाथ धाम जाने के बाद ही बद्रीधाम आना चाहिए, परंतु जो श्रद्धालु सीधे आ जाते हैं तो वे इन पंच शिलाओं के दर्शन कर बद्रीनाथ मंदिर में जा सकते हैं। अलकनन्दा के तट पर ब्रह्मकपाल तीर्थ है जहाँ कई श्रद्धालु अपने पितरों के निमित्त पके चावलों का पिण्ड दान करते हैं। पौराणिक कथानुसार एक बार ब्रह्माजी अपनी पुत्री संध्या/सरस्वती पर आसक्त हो गए तो शिवजी ने क्रोधित होकर उनके पाँच सिरों में से एक को काट दिया। ब्रह्म हत्या के कारण यह कटा हुआ कपाल उनके हाथ पर चिपक गया। इससे मुक्त होने को वे कई तीर्थो पर गए, अंततः अलकनंदा में स्नान से इस कपाल और ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हुए, जिससे इसका कपाल तीर्थ नाम प्रसिद्ध हुआ। बद्रीनाथ मंदिर से 8 कि.मी. की दूरी पर वसुधारा है, जहाँ जाने के लिए जोशी मठ में

अधिकारियों से अनुमति पत्र लेना पड़ता है। यहाँ पर्वत की 400 फीट की ऊंचाई से जल धारा गिरती है जिसकी हवा में उड़ती बूंदों का दृश्य रोमांचित कर देता है। बदरी क्षेत्र में 14400 फीट की ऊंचाई पर सतोपन्थ नामक जगह है जहाँ हिमाच्छादित पहाड़ों के बीच स्वच्छ पवित्र जल की तिकोनी झील है। मौसम साफ होने पर यहाँ से स्वर्गारोहण पर्वत का शिखर स्पष्ट दिखायी देता है। बदरीनाथ से सतोपंथ जानेवाले मार्ग पर लक्ष्मी-भवन के निकट यक्षराज कुबेर की अलकापुरी है।

बद्रीनाथ मंदिर से 4 कि.मी. पर तिब्बती सीमा की तरफ से पहली भारतीय बस्ती माणा गाँव (मणिभद्रपुर) जाते समय एक दिशापट्ट पर दृष्टि पड़ी, लिखा था– फूलों की घाटी 25 कि.मी.। मैंने जल्दी से कहा 'रोको रोको, पहले फूलों की घाटी चलेंगे।' ड्राइवर ने कार को धीरे कर कहा- सर! अभी जून में वहाँ कुछ नहीं है, अक्टूबर में घाटी अलग-अलग फूलों और मादक गंध से भर जाती है, इसी से इसको गंधमादन पर्वत भी कहते हैं जिससे संबंधित प्रसंग पुराणों में भी हैं।

माणा गाँव में पर्वत की तलहटी में डांडी लिए नेपाली युवकों का जमावड़ा था, जो इस समय कमाई करने नेपाल से यहाँ आ जाते हैं। डांडियों में बैठ, युवकों की पीठ पर लद कर व्यास गुफा के लिए सीढ़ियां चढ़ते प्रस्थान किया। पहले गणेश गुफा मंदिर में गणेशजी के दर्शन किए फिर व्यास गुफा में गए, यहीं कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास जी ने 'जय' काव्य की रचना की और गणेशजी ने लिखा, यहाँ आचार्य श्री शंकर को व्यासजी का साक्षात हुआ बताते हैं। जिसके बाद उन्होंने अपने अद्वैत दर्शन की प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों एवं भगवद्गीता) के भाष्य लिखे। गुफा में श्रीव्यास आदि की मूर्तियों के अलावा शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक आचार्य श्री वल्लभ की मूर्ति देख कर आश्चर्य हुआ, संभवतः आचार्य श्री वल्लभ की यह एकमात्र मूर्ति है। व्यास गुफा से फिर डांडी में सवार होकर दूसरी तरफ नीचे उतरे जहाँ एक पहाड़ी खोह में घर-घर की प्रचंड ध्वनि करती सरस्वती नदी उतर रही थी। व्यासजी ने अपने 'जय' काव्य का प्रारम्भ बदरीवन में स्थित नारायण एवं इसी सरस्वती को नमस्कार कर किया है। बताया गया कि यह नदी कैलास मानसरोवर से आ रही है। पहाड़ी संकरी घाटी पर बने पुल को पार कर वह मार्ग है जिससे द्रौपदी सहित पाण्डवों ने स्वर्गारोहण किया था। यहाँ कुछ चढ़ाई तक सीढ़ियां बना दी गई हैं, ऊपर द्वार का निर्माण कर दिया गया है। पुल के सिरे पर सरस्वती-मंदिर का निर्माण किया जा रहा है। पहाड़ी खोह में घर-घर का भयंकर स्वर कर रही सरस्वती नदी पुल के नीचे से शाँति से बहती, कुछ आगे जाकर अचानक भूगर्भ में प्रवेश कर गई, यह अद्‌भुत दृश्य है। बताया गया कि यह भूमि में समा कर अलकनन्दा में मिल गई है। इस स्थान को केशव प्रयाग कहते हैं। पुल पर विक्रय हो रहे सरस्वती जल से आचमन कर डांडियों में सवार हो वापस नीचे आ गए जहाँ हमारी कार खड़ी थी। हरिद्वार वापसी के लिए प्रस्थान कर दिया।

अभी तो हम कितने आराम से कार में बैठे-बैठे यह यात्रा कर आए, परंतु पुराने समय में लोग अपने जीवन के अंतिम समय के रूप में यह दुर्गम यात्रा करते थे। स्मरण आ रहा है 12वीं शताब्दी में निर्मित कोणार्क (ओडिशा) मंदिर की बाहरी दीवार पर उत्कीर्ण दृश्य जिसमें बदरिकाश्रम की यात्रा पर जा रहे व्यक्ति को उसके परिजन रो-रो कर अंतिम विदाई दे रहे हैं। इससे भी पहले नौवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अल्प वयस्क संन्यासी आचार्य शंकर की कठिनाई तो अकल्पनीय है जिसको सहकर उन्होंने बदरिकाश्रम की दुर्गम यात्रा कर यहाँ नारायण प्रतिमा स्थापित की, व्यास गुफा में प्रस्थान त्रयी के भाष्य लिखे और बदरिकाश्रम से नीचे हरिद्वार मार्ग पर उत्तरी शंकराचार्य पीठ (ज्योतिष पीठ उ जोशी मठ) की स्थापना की। इसी तरह पूर्वी गोवर्धन पीठ (पुरी, ओडिशा), पश्चिमी शारदा पीठ (द्वारका,गुजरात) और दक्षिणी श्रृंगेरी पीठ (कर्नाटक) की स्थापना की, उन्होंने ही हिमालय के चार धामों- केदारनाथ, बद्रीनाथ, गंगोत्री एवं यमुनोत्री को धाम के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा इनका अपने अद्वैत दर्शन से समन्वय कर हिन्दू धर्म को नया रूप दिया।

बदरिकाश्रम की यात्रा के प्रारंभ में भी चिंतन घुमड़ रहा था और समाप्ति पर भी। हिमालय का एकमात्र बदरीवन ही है जिसका उल्लेख महाभारत में हुआ है जहाँ नारायण का निवास है, जिनसे हिन्दू धर्म परम्परा में एक नवीन धार्मिकता- भागवत धर्म और उससे वैष्णव धर्म ने

प्रस्थान लिया और नारायण अवतारी हुए जिनके अवतार श्रीकृष्ण हुए जो वासुदेव भी कहलाये। वासुदेव (सर्वत्र व्याप्त देवता) नारायण के इष्ट देव हैं और नारायण अपनी तपस्या से वासुदेव भी हो गये। बाद में नारायण को विष्णु में अंतर्भुक्तकर दिया गया। बदरी क्षेत्र में, प्रचलित कथाओं के अनुसार शिव का निवास था इसीलिए विष्णु प्रयाग से ऊपर के इस भाग को अभी भी रुद्र (शिव) हिमालय कहा जाता है, इसीलिए पांडव गोत्रहत्या के पाप से मुक्ति हेतु शिवजी से प्रार्थना करने यहाँ आये थे। नारायण ने बड़ी चालाकी से शिव को यहाँ से दूसरे पर्वत पर भेज दिया जहाँ वे एक प्राकृतिक चट्टान (शिवलिंग) के रूप में केदारनाथ नाम से पूज्य हुए, जैसे ओडिशा में एक चट्टान लिंगराज नाम से पूज्य है। ये प्रसंग वैष्णवों द्वारा शैवों के स्थानों पर अधिकार करने की ओर इंगित करता है, जैसे कि वैष्णवों ने 'हरद्वार' (शिवद्वार) का 'हरिद्वार' (विष्णुद्वार) नाम कर दिया। हिमालय का यह क्षेत्र केदार (थांवला या गोलाकार क्यारी) के आकार में है अतः इसे केदार खण्ड कहा गया है। कथाओं में बद्रीवन को वैकुण्ठ भी कहा जाता है जहां नारायण लक्ष्मी सहित निवास करते हैं। बद्रीनाथ मंदिर से कुछ दूरी पर एक स्थान को लक्ष्मीभवन कहा जाता है। इन नारायण के प्रिय और प्रधान अर्चक नारद यहाँ रहते हैं जो निरंतर नारायण-नारायण नाम के संकीर्तन में मगन रहते हैं। इस वैकुण्ठ के द्वारपाल जय-विजय हैं जो बद्रीधाम से नीचे की तरफ दो पर्वतों के रूप में, विष्णुप्रयाग में स्थित हैं। विष्णुप्रयाग को इस वैकुण्ठ का द्वार कहा जाता है। तो पुराणों में वर्णित वैकुण्ठ यही है क्या? बदरीधाम से कुछ दूर ऊंचाई पर तिब्बत (त्रिविष्टप) है जहां, एक कथानुसार पहले नारायण रहा करते थे। श्री बालगंगाधर तिलक ने तिब्बत को ही वैकुण्ठ और यहाँ से ही आर्यो का भारत में आना प्रतिपादित किया है। बदरी क्षेत्र में गंधमादन पर्वत है जिसे अभी फूलों की घाटी कहा जाता है जहाँ अक्टूबर-नवम्बर में विभिन्न फूलों की मादक गंध छाई रहती है, गंधमादन पर्वत का पौराणिक कथाओं में उल्लेख है।

स्वर्गारोहण के लिए बदरिकाश्रम आने से पहले भी पांडव बदरिकाश्रम आये थे। कौरवों-पांडवों में हुई दूसरी द्यूत-क्रीड़ा में भी युधिष्ठिर के हार जाने पर इस जुए की शर्त के अनुसार द्रौपदी सहित पांडवों को बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास करना पड़ा। इस वनवास में वन भ्रमण करते हुए पांडव मंदराचल और श्वेतगिरि पर्वतों के मध्य से निकलकर गंधमादन पर्वत पर पहुंचे। यहां पांडवों ने छह रात्रियां व्यतीत की। यहीं द्रौपदी ने सहस्रदल कमल देखा। उसके आग्रह पर भीम दूसरा सहस्रदल कमल लाने गया तो उसकी भेंट वृद्ध वानरराज हनुमान से हुई जिनकी पूंछ को हिलाने में भी असमर्थ रहे भीम का अभिमान नष्ट हुआ और उसने हनुमान को अपना ज्येष्ठ भ्राता मान कर उनका सम्मान किया। इस पर हनुमान ने अपना परिचय देते हुए भीम को रामकथा सुनाई। भीम कुबेर के सरोवर से सहस्रदलकमल लेकर वापस आया। तदुपरांत पांडव बदरिकाश्रम आकर रहे। यहीं उनकी भेंट यक्षराज कुबेर से हुई और यहीं, इन्द्र से दिव्यास्त्र प्राप्त कर अर्जुन वापस आकर सबसे मिला। पश्चात सब यहां से द्वैत वन चले गए और फिर अज्ञातवास के लिए मत्स्यराज की राजधानी विराटनगर चले गये। बद्रीनारायण मंदिर से 8 किलोमीटर दूर स्थित लक्ष्मीभवन से आगे अलकापुरी नामक स्थान है। राक्षसराज रावण ने अपने अग्रज यक्षराज कुबेर को लंका से निष्कासित कर दिया था, तब यक्षराज कुबेर ने हिमालय में जाकर अपनी इस राजधानी अलकापुरी की स्थापना की थी (जहां से निर्वासित एक यक्ष को, उसकी प्रिय पत्नी को संदेश पठाने के लिए संस्कृत के महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' की सुविधा उपलब्ध कारवाई थी)। इससे इस क्षेत्र में यक्षों के निवास की धारणा बनती है। बदरीनारायण मंदिर से तिब्बत की तरफ 4 किलोमीटर जाने पर माणा गाँव है जो तिब्बती सीमा की ओर से पहला भारतीय गाँव है। वस्तुतः इसका मूल नाम मणिभद्रपुर था। मणिभद्र यक्षराज कुबेर के एक बड़े सभासद का नाम है। मणिभद्रपुर से अपभ्रंश होकर माणा हो गया। माणा गाँव के निवासियों का कहना है कि यक्षराज कुबेर हमारे आराध्य हैं और उनकी कृपा से हम यहाँ सुख पूर्वक रह रहे हैं, हमको यहाँ कभी कोई अभाव नहीं होगा। माणा गाँव के निवासियों का समस्त लेनदेन तिब्बत से है। तो क्या माणा गाँव के निवासी और तिब्बत के निवासी यक्षों के वंशज हैं?

— डॉ. बाबूलाल शर्मा

सतत सनातन

देवदत्त पटनायक

विदेशों में भी श्रीराम उतने ही प्रिय रहे, जितने हमारे यहां पूजनीय

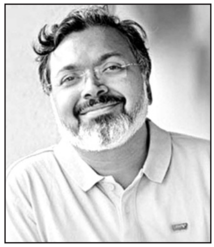

15वीं सदी में थाईलैंड की राजधानी अयुत्थया थी, जो थाई भाषा में अयोध्या के लिए इस्तेमाल किया गया शब्द है। 18वीं सदी में बनी सैनिकों ने इस शहर पर कब्जा किया और एक नए राजा यहां राज करने लगे। उन्होंने खुद को 'राम प्रथम' घोषित किया और उस शहर की स्थापना की जो अब बैंकॉक कहलाता है। रामायण का थाई रूप 'रामकिएन' उन्होंने ही लिखा और उसे राष्ट्रीय महाकाव्य भी उन्होंने ही बनाया। उन्होंने शाही परिवार द्वारा संरक्षित 'टेम्पल ऑफ द एमरल्ड बुद्ध' की दीवारों पर इस महाकाव्य को भित्ति-चित्रों के रूप में चित्रित किया।

थाईलैंड के अयुत्थया में स्थित श्रीराम को समर्पित वाट फरा राम मंदिर) (निर्माण काल चौदहवीं सदी)

हालांकि वे बौद्ध थे, लेकिन पौराणिक राम के साथ अपनी पहचान बनाकर उन्होंने अपनी शाही साख स्थापित की। उन दिनों बौद्ध और हिंदू धर्म के बीच कोई भेद नहीं करता था। राम दक्षिण पूर्व एशिया के बौद्धों के लिए उतने ही प्रिय थे, जितना कि वे दक्षिण एशिया के हिंदुओं के लिए थे। जल्द ही वे दक्षिण पूर्व एशिया के राजाओं के लिए आदर्श बन गए। 11वीं सदी में बर्मा में मोन भाषा में लिखे एक शिलालेख से पता चलता है कि बगान राजवंश के राजा क्यानजित्था ने घोषणा की थी कि वे अपने पिछले जन्म में राम के निकटतम संबंधी थे।

अंगकोर वाट, जो 12वीं सदी में कंबोडिया में बनाया गया, के जिस गलियारे में शाही जुलूस कर चित्रण है, उसके बगल के गलियारे में रामायण के खमेर संस्करण 'रामाकेर' की नक्काशी पाई जाती है। नोमपेन्ह में शाही महल परिसर की दीवारों पर भी रामायण पर आधारित भित्तिचित्र मिले हैं। एक कहानी विशेष तौर पर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। इसमें हनुमान एक टूटे हुए पुल के किनारे से लेकर लंका के तट तक खुद को तानते हैं ताकि राम अपने रथ पर सवार होकर अपनी भव्य वानर सेना के साथ आसानी से समुद्र पार कर सकें।

कंबोडिया के राजा भी आज थेरवाद बौद्धधर्मीय हैं। लेकिन सदियों पहले वे महायान बौद्धधर्मीय थे और उससे भी पहले वे हिंदूधर्मीय थे। ओडिया और तमिल समुद्री व्यापारी भारत

में जन्मे इस धर्म को दक्षिण-पूर्व एशिया तक ले गए। सामान के आदान-प्रदान के साथ-साथ उन्होंने अपनी कहानियां भी साझा की। रात में जहाजों को तेल के दीयों से रोशन कर कहानीकार छाया कठपुतली की कला बनाने को प्रेरित हुए। इसलिए छाया कठपुतली का खेल कोरोमंडल समुद्री तटों और अधिकांशतः दक्षिण पूर्व एशिया में पनपा, उदाहरणार्थ ओडिशा में रावण-छाया और इंडोनेशिया में वायांग के रूप में।

लगभग 1,000 साल पहले जब भारत में बौद्ध धर्म का प्रचलन कम हुआ और हिंदू व्यापारियों की समुद्री मात्राएं वर्जित हो गई, इस डर से कि उन यात्राओं से वे अपनी मूल जाति खो देंगे, यह सीधा आदान-प्रदान भी रुक गया। यह व्यापार अब अरबी लोगों के हाथ चला गया, जो इस्लाम को दक्षिण-पूर्व एशिया ले गए। हम यह यकीन से इसलिए कह सकते हैं क्योंकि वहां पाई जाने वाली रामायण में वो भक्तिरस नहीं है, जो भारतीय रामायण का अभिन्न अंग है।

जावा की 'काकविन रामायण' का पहला भाग वाल्मीकि रामायण जैसा है, जबकि दूसरा भाग उससे अलग है। दूसरा भाग अधिक लोकप्रिय इसलिए है क्योंकि वह स्थानीय हास्यप्रद नायक 'कुरूप', संरक्षक देवता 'सेमर' और उनके तीन विचित्र बेटों के कारनामों की बात करता है। मलेशियाई 'हिकायत सेरी रामा' निर्णायक लक्ष्मण को अधिक महत्व देता है। वह रावण के प्रति अधिक सहानुभूतिशील है। ये स्थानीय नवाचार भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के बीच सांस्कृतिक संबंधों के लंबे समय से टूटने के प्रमाण हैं, जिसमें सुधार लाने का वर्तमान भारतीय सरकार ने निश्चय कर रखा है।

■■

जैन महाभारत के अनुसार कृष्ण के चचेरे भाई हैं २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ

हिंदू धर्म की तरह जैन धर्म भी स्वयं को सनातन धर्म मानता है। यानी जिसकी न कोई शुरुआत है (अनादि) और न कोई अंत है (अनंत)। बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म भी मठवासी है। उसमें भी ईश्वर (परम-

मदुरई के पास समानार मलई क्षेत्र में जैन धर्म से संबंधित प्राचीन स्मारक। जैन महाभारत के अनुसार मदुरई की स्थापना पांडवों ने की थी।

आत्मा) की धारणा नहीं है। लेकिन, बौद्धों के विपरीत यह एक व्यक्तिगत आत्मा (जीव-आत्मा) की धारणा में विश्वास करता है जो अहिंसा, संयम और उपवास जैसी तपस्याओं के जरिए सभी अशुद्धियों से स्वच्छ होकर उच्चतम क्षेत्रों में प्रवेश कर सकती है।

जैन धर्मावलंबी 24 महान तीर्थंकरों में विश्वास करते हैं, जो इस दुनिया के प्रत्येक अनंत जीवन-चक्र (कल्प) में प्रकट होते हैं। तीर्थंकरों के अलावा प्रत्येक कल्प में चक्रवर्ती नामक 12 महान सम्राट और बलदेव नामक नौ अहिंसक नायक होते हैं। बलदेवों के भाई वासुदेव, प्रति-वासुदेव नामक खलनायकों से लड़ते हैं। जैनों के लिए राम अहिंसक बलदेव थे और कृष्ण लड़ने वाले वासुदेव। इस प्रकार रामायण और महाभारत जितने हिंदू धर्म के हिस्से हैं, उतने ही जैन धर्म के भी। आइए जैन धर्म में महाभारत को समझते हैं। जिनसेन का 'हरिवंश' नामक जैन महाभारत पांडवों को कम और कृष्ण व जरासंध के बीच हुई लड़ाई को अधिक महत्व देता है। इस महाभारत के अनुसार कृष्ण की मां देवकी ने आठ पुत्रों को जन्म दिया। पहले छह बच्चों की जगह एक व्यापारी की पत्नी के मृत नवजात बच्चों ने ले ली। कृष्ण के छह भाई अंततः जैन साधु बन गए। सातवें और आठवें पुत्रों को चरवाहों के परिवारों में भेज दिया गया और वे चरवाहे बनकर बड़े हुए। कृष्ण के चचेरे भाई 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ हैं। वे अपने विवाह भोज के लिए वध हेतु लाए गए जानवरों के कष्टों को सहन नहीं कर पाए और इसलिए साधु बन

गए। अपने पिछले जन्म में पांडव पांच भाई थे जो तीसरे भाई की पत्नी को एक जैन साधु को जहर देने से रोक नहीं सके। इसलिए उन्हें पुनर्जन्म लेना पड़ा, जुए का व्यसन पसंद करने वाले भाई के रूप में। तीसरे भाई की पत्नी ने द्रौपदी के रूप में पुनर्जन्म लिया।

द्रौपदी का केवल एक पति है अर्जुन। वह अर्जुन से बड़े युधिष्ठिर और भीम को अपने पिता समान मानती है और अर्जुन से छोटे नकुल व सहदेव को पुत्र समान। वह जो माला अर्जुन को पहनाती है, वह टूट जाती है और कुछ फूल अन्य चार भाइयों पर गिर जाते हैं। इससे ऐसी आफवाह फैलती है कि वह सभी भाइयों की पत्नी है। पांडव कौरवों से जुए में राज्य खो देते हैं। समझौते के अनुसार पांडव जंगल में 12 साल बिताते हैं। 13वां साल वे राजा विराट के महल में नौकरों के भेस में छिपकर बिताते हैं। भीम द्रौपदी से छेड़छाड़ करने वाले कीचक को दंड देते हैं, लेकिन वे उसे मारते नहीं हैं। कीचक एक जैन साधु बन जाता है और अंततः मुक्त हो जाता है।

कौरवों के विरुद्ध युद्ध में पांडव कृष्ण से मदद मांगते हैं। कृष्ण उन्हें इस शर्त पर मदद करने का वादा करते हैं कि वे कृष्ण की जरासंध से लड़ाई में मदद करेंगे। जरासंध कृष्ण की ओर एक पहिया फेंकता है, लेकिन नेमिनाथ पहिये को रोक देते हैं। इससे पहिया पहले दोनों चचेरे भाइयों (कृष्ण एवं नेमिनाथ) के इर्द-गिर्द घूमता है और अंततः कृष्ण की उंगली पर बैठता है। फिर कृष्ण जरासंध की ओर पहिया फेंककर उसे मार डालते हैं।

जरासंध की मृत्यु और कौरवों की हार के बाद कृष्ण को नारायण या अर्ध-चक्री घोषित किया जाता है। इतने लोगों के वध का कारण बनने पर कृष्ण स्वर्ग न जाकर मृत्यु का अनुभव करते हैं। भविष्य में वे एक तीर्थंकर के रूप में जन्म लेंगे। उनके भाई बलराम अहिंसक रहते हैं। पांडव दक्षिण जाकर दक्षिणी मथुरा (तमिलनाडु में मदुरई, जो मध्यकाल में एक लोकप्रिय जैन केंद्र था) को स्थापित करते हैं और अंततः जैन साधु बन जाते हैं।

इस प्रकार स्पष्टतया जैन धर्म में महाभारत का एक अलग ही रूप है। युद्ध और जीत के बजाय यहां अहिंसा के जैन सिद्धांत को अधिक महत्व दिया गया है। यह भारत की विविधता का एक और उदाहरण है।

■■

जरथुस्त्र : प्राचीनतम एकेश्वरवादी धर्म, भारत में पारसी कहलाया

बेंगलुरु स्थित पारसियों का प्रार्थना स्थल बंगलौर अगिआरी। यह 98 साल पुराना है। यहां मूलतः अग्नि की पूजा की जाती है। ईरान में भी कुछ इस तरह के अगिहारी अब भी बचे हैं।

प्राचीन काल के हिंदू अपने आप को आर्य और अपनी भूमि को आर्यावर्त कहते थे। मनुस्मृति के अनुसार आर्यावर्त उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र तक फैला था। लेकिन मनुस्मृति में एक और आर्य समुदाय का उल्लेख नहीं है, जो उसी समय ईरान में रहता था। वास्तव में, ईरान आर्यन का फ़ारसी शब्द है और ईरानवासी मानते हैं कि वे ही आर्य हैं। इस्लाम के आने से पहले ईरान जरथुस्त्र था। जरथुस्त्र या जरथुस्त्राई धर्म विश्व का सबसे प्राचीन एकेश्वरवादी धर्म है। उसका पवित्र ग्रंथ 'अवेस्ता' है।

इस्लाम के विकास के साथ-साथ अधिकांश अवेस्ता नष्ट कर दिया गया। अवेस्ता में कहा गया कि मध्य एशिया को 'ऐर्यनेम वाएजा' अर्थात 'जहां आर्य फैले हैं' कहा गया। यहां यिम (वेदों के यम) जैसे राजाओं ने राज किया। लेकिन फिर यिम मानने लगे कि वे सभ्यता के स्रोत थे, न कि अहुरा माजडा (असुर)।

इसके पश्चात उनके राजत्व का अंत हुआ।

ऋग्वेद के 10वें मंडल के 14वें सूक्त में उल्लेख है कि कैसे मरने वाले पहले मनुष्य यम ने पितरों की भूमि तक मार्ग दिखाया। संभवतः यह सूक्त यम के नेतृत्व में ईरान के बाहर एक नई भूमि (भारत?) तक के प्रवसन को वर्णित करता है। आर्य शब्द के लिए सबसे प्राचीन शिलालेखीय प्रमाण पश्चिमी ईरान में पाए जाने वाले 2500 YBP बेहिस्टून शिलालेख में है। यह शिलालेख लगभग उसी समय अस्तित्व में आए, जब भारत में बुद्ध जीवित थे।

प्राचीन अवेस्ता में पाए जाने वाले ईरानी आख्यान शास्त्र के अनुसार अहुरा माजडा ने भूमि और समुद्र के सकेंद्रित चक्रों से घिरी आर्यों की भूमि निर्मित की। इस भूमि के केंद्र में स्थित पहाड़ से एक विशाल नदी समुद्र तक बहती थी। पहले मनुष्य 'गायोमार्ट' का निर्माण नदी के तट पर हुआ। उसने भूख, भय, बीमारी और मृत्यु केवल तब अनुभव किए, जब आरिमान (डेविल) ने उनका निर्माण किया। गायोमार्ट का वीर्य सूर्य द्वारा निषेचित हुआ और उससे पहले पुरुष और स्त्री ने जन्म लिया।

जरथुस्त्र गायोमार्ट के वंशज थे। उन्होंने लोगों को बताया कि शुरू में विश्व अच्छी जगह हुआ करता था, जिस कारण लोगों को अच्छा मार्ग (आशा) अपनाकर बुरा मार्ग (द्रुज) त्यागना चाहिए। उन्होंने समझाया कि कैसे मृत्यु के पश्चात अच्छे लोगों के सामने एक चौड़ा पुल प्रस्तुत होगा, जो उन्हें हाउज ऑफ सॉन्ग (हेवन या स्वर्ग) ले जाएगा। दूसरी ओर बुरे लोगों के सामने एक संकीर्ण पुल प्रस्तुत होगा जो उन्हें हेल (नरक) लेकर जाएगा। जरथुस्त्राई लोग यास्ना नामक आग की विधि करते थे, वृषभ और गायों को पूजते थे और होम के पौधे से बनाया पेय गॉड को अर्पित करते थे।

2500 वर्षों से भी पहले जरथुस्त्राई लोगों ने फारसी साम्राज्य स्थापित किया। वहां आई यहूदी जनजातियों ने प्रेममय गॉड, दूषित करने वाले डेविल, महान फरिश्तों, हेवन, हेल और जजमेंट जैसी धारणाओं के बारे में पहली बार जाना। यहूदी आख्यान शास्त्र के अनुसार फारसी सम्राट, सायरस द ग्रेट ने दूसरा यहूदी मंदिर बनाने में मदद की थी। जरथुस्त्राई, यूनानी और रोमन लोगों में संघर्ष होते रहते थे।

जरथुस्त्राई मुसलमान और रोमन साम्राज्य के ईसाई बनने के बाद भी यह संघर्ष 1000 वर्ष पहले लड़े गए क्रूस युद्धों के रूप में चलता रहा। आज इस संघर्ष ने ईरान और अमेरिका के बीच लड़ाई का रूप ले लिया है।

ईरान में जरथुस्त्राई धर्म के कुछ पूजा स्थल, जिन्हें अगिआरी कहते हैं, अभी भी बचे हैं। लेकिन अधिकांश जरथुस्त्राई अब ईरान के बाहर भारत और पाश्चात्य देशों में रहते हैं। वे भारत लगभग 1000 वर्ष पहले आकर गुजरात में बसे। तब उन्होंने वहां के राजा को बचन दिया कि जैसे शक्कर दूध में मिलती है, वैसे वे भी भारत के लोगों से घुल-मिलकर रहेंगे। स्थानीय लोगों जैसे वे भी सगोत्र विवाह करने लगे, गुजराती बोलने लगे और रंगोली तथा आरती जैसी प्रथाओं का पालन करने लगे। शुरू में वे गैर-हिंदू आर्य थे, वे आर्य जो अल हिंद के बाहर रहते थे। अब वे भारत के पारसी कहलाते हैं, जिनमें कुछ ऐसी प्रथाएं और यादें अब भी हैं, जो हिंदू धर्मावलंबियों ने कई हजार वर्ष पहले छोड़ दी हैं। पारसी समुदाय के नव वर्ष को नवरोज या नौरोज कहते हैं।

❐❐

(प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों के आख्यानकर्ता और लेखक)
devdutt.pattanaik@gmail.com

रेकी : एक संपूर्ण आध्यात्मिक उपचार पद्धति

सीताराम गुप्ता, (रेकी मास्टर)

डॉ. मिकाओ उसुई

रेकी अपेक्षाकृत नई लेकिन एक अत्यंत लोकप्रिय वैकल्पिक उपचार पद्धति है। एक ओर यह आध्यात्मिक चिकित्सा से जुड़ती है तो साथ ही इसे स्पर्श-चिकित्सा की श्रेणी में भी रखा जाता है। शारीरिक व्याधियों के उपचार के अतिरिक्त लक्ष्य प्राप्ति अथवा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य विधियों की तरह रेकी से भी सहायता ली जाती है। इसमें रेकी ऊर्जा का आह्वान कर हम अपनी इच्छा ही व्यक्त करते हैं। इस अवस्था में जैसे हमारे मनोभाव होंगे वही अवस्था स्थायी रूप ग्रहण कर लेगी। इसमें हमारे मन व चेतना के स्तर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार एक संपूर्ण आध्यात्मिक उपचार पद्धति है रेकी।

रेकी क्या है?

रेकी जापानी भाषा का शब्द है जो 'रे' और 'की' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'रे' का अर्थ है 'सर्वव्यापी' अर्थात ओम्नीप्रेजेंट तथा 'की' का अर्थ है 'जीवनीशक्ति' या 'प्राण' अर्थात लाइफ फोर्स एनर्जी। इस प्रकार रेकी वह ईश्वरीय ऊर्जा, दिव्य ऊर्जा अथवा आध्यात्मिक ऊर्जा है जो इस समस्त ब्रह्मांड में हमारे चारों ओर व्याप्त है। हम सब इसी जीवनी शक्ति को लेकर पैदा होते हैं और इसी के द्वारा जीवन जीते हैं।

समय के साथ-साथ जब अनेक गलत आदतों अथवा अन्य कारणों से जब हमारे शरीर में इस उर्जा का प्रवाह कम हो जाता है अथवा संतुलन बिगड़ जाता है तभी हमारा शरीर रोगों की ओर आकर्शित होता है। इस जीवनीशक्ति का सुचारु और संतुलित प्रवाह हम सभी को जीवित और स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक है। रेकी उपचार अथवा साधना में हम इसी सर्वव्यापी जीवनीशक्ति का उपयोग कर अपने को लाभार्थ करते हैं।

रेकी की खोज :

रेकी एक अनादि ऊर्जा शक्ति है। भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध तथा ईसा मसीह में यह उपचारक शक्ति विद्यमान थी जिससे वे किसी भी व्यक्ति अथवा अन्य प्राणी को अपने स्पर्श मात्र से व्याधिमुक्त कर देते थे। इसके पर्याप्त प्रमाण हमें मिलते हैं। कालांतर में यह शक्ति क्षीण होती चली गई और लुप्तप्राय हो गई। वर्तमान काल में इसकी खोज अथवा इसको पुनः स्थापित करने का श्रेय जापान के क्योटो विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक डॉ. मिकाओ उसुई को जाता है।

डॉ. उसुई ने उन्नीसवीं सदी के मध्य में इसको पुनः स्थापित किया। डॉ. मिकाओ उसुई के नाम पर इस पद्धति को उसुई शीकी रिओहो अथवा उसुई सिस्टम ऑफ नेचुरल हीलिंग अर्थात् प्राकृतिक उपचार की उसुई पद्धति भी कहा जाता है। डॉ. मिकाओ उसुई विश्वविद्यालय में

क्रिश्चियन विद्या के प्राध्यापक थे। एक दिन उनके एक छात्र ने पूछा कि क्या ईसा मसीह की तरह मात्र स्पर्श द्वारा रोगों को दूर करना संभव है? डॉ. उसुई इस तथ्य से सहमत तो थे कि स्पर्श द्वारा उपचार संभव है क्योंकि बाइबिल में यह लिखा है लेकिन वे उपचार की इस विधि से अनभिज्ञ थे।

इस घटना के बाद डॉ. उसुई ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया तथा बिना दवा के स्पर्श द्वारा उपचार की इस पद्धति को खोजना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इस सिलसिले में वे अमरीका, जापान, चीन, तिब्बत तथा भारत में आए और अनेक ग्रथों का अध्ययन किया तथा अनेकानेक लोगों से मिले। अंत में एक संस्कृत ग्रंथ 'कमलसूत्र' में उन्हें इसकी जानकारी मिली लेकिन आध्यात्मिक ऊर्जा नहीं जिससे वे उपचार कर सकते। जापान में कुरायामा पर्वत पर इक्कीस दिनों की तपस्या या साधना के बाद उन्होंने वह शक्ति खोज निकाली जिससे स्पर्श द्वारा उपचार संभव हो सके और इसके प्रचार-प्रसार में जुट गए। उन्होंने भिखारियों की बस्ती में जाकर रेकी ऊर्जा के द्वारा निःशुल्क उपचार कार्य प्रारंभ किया लेकिन उन्हें अनुभव हुआ कि बिना माँगे और वो भी मुफ्त में मिली वस्तु का कोई महत्व नहीं होता अतः उन्होंने रेकी उपचार विषयक दो प्राथमिक नियम बनाए।

■ जो व्यक्ति रेकी की शिक्षा प्राप्त करना चाहे अथवा रेकी उपचार लेना चाहे केवल उसे ही सिखाया जाए या उसका उपचार किया जाए।

■ रेकी सीखने वाले या रेकी उपचार लेने वाले व्यक्ति से अपनी सेवा के बदले कुछ न कुछ अवश्य लिया जाए।

डॉ. मिकाओ उसुई ने डॉ. चुजीरो हयाशी को रेकी का प्रशिक्षण देकर अपने बाद रेकी के प्रचार-प्रसार की जिम्मेदारी उन्हें सौंप दी। डॉ. चुजीरो हयाशी के बाद सुश्री टकाटा हवायो नामक महिला उनकी उत्तराधिकारिणी बनीं तथा सन् 1970 व 1980 के मध्य उन्होंने इक्कीस रेकी शिक्षकों को तैयार किया जो अब तक लाखों रेकी शिक्षक तैयार कर चुके हैं। भारत में सबसे पहले रेकी सीखने और उसका प्रचार-प्रसार करने वालों में दो नाम विषेश रूप से उल्लेखनीय हैं : अहमदाबाद के प्रवीण डी पटेल तथा मुंबई की श्यामल दुर्वे।

रेकी उपचार की प्रकृति :

क्योंकि रेकी उपचार में हाथों की हथेलियों से छूकर उपचार किया जाता है अतः यह पद्धति स्पर्श चिकित्सा (Touch Healing) की श्रेणी में आती है। रेकी उपचारक के हाथों की दोनों हथेलियों से रेकी ऊर्जा प्रवाहित होती है जो छूने पर स्वयं उसको या दूसरे व्यक्ति को उपचार में सहायता पहुँचाती है।

रेकी शिक्षक और रेकी चिकित्सक :

रेकी शिक्षक वह व्यक्ति है जो किसी भी व्यक्ति को रेकी सिखाता है तथा उपचार करता है। रेकी सीखने वाला स्वयं का तथा दूसरों का उपचार तो कर सकता है लेकिन रेकी सिखा नहीं सकता। रेकी की शिक्षा देने के लिए कम से कम रेकी मास्टर की डिग्री की आवश्यकता है। रेकी मास्टर दूसरों को रेकी चिकित्सक बना सकता है तथा रेकी ग्रैंड मास्टर रेकी मास्टर बना सकता है।

रेकी कैसे कार्य करती है?

कोई भी व्यक्ति जो रेकी का प्रारंभिक प्रशिक्षण लेता है रेकी चैनल या माध्यम कहलाता है। रेकी उसके शरीर में ऊर्जा तरंगों के रूप में बहती है जो उसकी हथेलियों के माध्यम से उत्सर्जित या प्रवाहित होकर उपचार में मदद करती है। रेकी कैसे कार्य करती है इसको सही जानने के लिए शरीर के प्रमुख सात चक्रों अथवा ऊर्जा केंद्रों की जानकारी आवश्यक है। उपर से नीचे की ओर स्थित सात चक्र क्रमशः निम्नलिखित हैं-

चक्र का नाम	स्थिति	रंग
सहस्रारसर	सिर के ऊपर मध्य में	वायलट या बैंगनी
आज्ञा चक्र	माथे पर दोनों भौंहों के मध्य ज़रा ऊपर	इंडिगो या नीला
विशुद्ध चक्र	गला	आसमानी
अनाहत अथवा हृदय चक्र	हृदय के निकट सीने के मध्य में	हरा
मणिपुर चक्र	नाभी से थोड़ा ऊपर	पीला
स्वधिष्ठान चक्र	नाभी से थोड़ा नीचे	ऑरेंज / संतरी
मूलाधार चक्र	यौन अंगों के मूल स्थान के सामने	लाल

हमारे शरीर में ऊर्जा का प्रवाह इन्हीं चक्रों के माध्यम से होता है। रेकी उपचार प्रक्रिया में रेकी ऊर्जा हमारे सहस्रार अथवा क्राउन चक्र से प्रविष्ट होकर आज्ञा चक्र, विशुद्ध चक्र, अनाहत अथवा हृदय चक्र तथा हाथों से होती हुई दोनों हाथों की हथेलियों से उत्सर्जित या प्रवाहित होती है। इसके लिए किसी बाह्य प्रयास की आवयश्कता नहीं होती। मात्र सोचने और हथेलियाँ रखने से उपचार की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। जरूरत है तो सिर्फ एक बार रेकी शिक्षक से प्रशिक्षण लेने की।

रेकी सुसंगतता अथवा शक्तिपात :

रेकी शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान ऊपर के चारों चक्रों को अट्यून कर रेकी ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित तथा अवरोधमुक्त कर देता है। इस प्रक्रिया को सुसंगतता अथवा शक्तिपात अर्थात् Attunement या Initiation कहते हैं। इस प्रक्रिया को गुप्त रखा जाता है। मात्र पढ़ने से इसकी शक्ति प्राप्त नहीं होती क्योंकि इसके प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं:

स्पर्श, दृष्टि, मंत्रोच्चारण, प्राणप्रवाह (प्राणाहुति) तथा संकल्प। एक बार योग्य रेकी प्रशिक्षक अथवा रेकी मास्टर से शक्तिपात हो जाने के बाद जीवनभर ये आध्यात्मिक उर्जा आपके चाहने मात्र से तुरंत प्रवाहित होकर उपचार में सहायक हो जाती है।

रेकी की सुचारुता :

क्योंकि रेकी ऊर्जा का प्रयोग करने वाला व्यक्ति ऊर्जा का वाहक मात्र होता है स्रोत नहीं इसलिए प्रयोग के कारण रेकी उपचारक की अपनी ऊर्जा कम नहीं होती अपितु जब वह दूसरे की चिकित्सा करता है तो उसकी स्वयं की चिकित्सा भी साथ-साथ हो जाती है। एक रेकी चैनल जब स्वयं की अथवा दूसरों की चिकित्सा नहीं भी करता है तब भी न्यूनाधिक मात्रा में ऊर्जा का प्रवाह उसकी हथेलियों के माध्यम से बना रहता है जो उसके चारों ओर एकत्रित होकर उसके आभामण्डल अर्थात् Aura को मज़बूत तथा विस्तृत करता है।

व्यक्ति का आभामण्डल जितना मज़बूत तथा विस्तृत होगा व्यक्ति उतना ही अधिक ऊर्जस्वित, स्वस्थ और नीरोग होगा। ऐसे व्यक्ति के निकट संपर्क में आने वाले व्यक्ति भी उससे स्वाभाविक रूप से लाभान्वित होते हैं। ऐसे व्यक्ति के पास बैठना आनंददायक प्रतीत होता है। साधु-संतों, बच्चों, पशु-पक्षियों अथवा पेड़-पौधों के पास बैठना बड़ा आनंददायक लगता है क्योंकि इन सब में ऊर्जा का प्रवाह पर्याप्त होने के कारण इनका आभामण्डल विस्तृत और ऊर्जस्वित होता है और स्वाभाविक रूप से आकर्षित करता है तथा आनंददायक और उपचारक भी होता है।

रेकी द्वारा उपचार कैसे किया जाता है?

जब रेकी द्वारा उपचार करते हैं तो हथेलियों को शरीर के विभिन्न भागों पर क्रमशः तीन-तीन मिनट तक रखते हैं। पूरे शरीर को उपचारित करने के लिए रेकी गुरुओं ने शरीर के विभिन्न भागों पर चौबीस से तीस के बीच स्थान निर्धारित किए हैं। रेकी सीखने की प्रारंभिक अवस्था में इसके पूर्ण अभ्यास के लिए 72 से 90 मिनट तक का समय अपेक्षित है। समयावधि आवश्यकतानुसार कम अथवा ज्यादा की जा सकती है। बाद में सामान्य अभ्यास के साथ-साथ शरीर के किसी विशेष भाग में अधिक पीड़ा या रोग होने पर उस विशिष्ट अंग को ज्यादा समय तक रेकी देते हैं।

उपर्युक्त सात चक्रों का रेकी में विशेष महत्व है। समय की कमी अथवा अन्य कारणों से यदि पूरे शरीर में चौबीस अथवा तीस स्थानों को रेकी दे पाना संभव न हो तो सातों चक्रों को अवश्य रेकी दें। स्वयं के सहस्रार को रेकी नहीं दी जाती क्योंकि ऐसा करने से रेकी ऊर्जा का प्रवेश बाधित हो जाएगा। दूसरे को रेकी देते समय उसके सहस्रार को भी रेकी दी जा सकती है। रेकी प्रारंभ करने वाले व्यक्ति को रेकी सीखने के बाद शुरू में कम से कम इक्कीस दिन तक अपने पूरे शरीर की नियमित रूप से हीलिंग करनी चाहिए। रेकी का जितना अधिक अभ्यास किया जाएगा, एक रेकी चैनल की ऊर्जा का प्रवाह उतना ही अधिक हो जाता है।

स्पर्श चिकित्सा तथा दूरस्थ चिकित्सा :

रेकी द्वारा चिकित्सा प्रदान करने की दो विधियाँ हैं- स्पर्श चिकित्सा व दूरस्थ चिकित्सा। स्पर्श चिकित्सा में हम स्वयं की अथवा दूसरों की हथेलियों के स्पर्श द्वारा चिकित्सा करते हैं लेकिन दूरस्थ चिकित्सा में रोगी

के शरीर को छूए बिना और देखे बिना दूर बैठ कर उपचार करते हैं। यह दूरी कुछ इंचों से लेकर हज़ारों मील तक की हो सकती है। इसमें रेकी प्रतीक चिह्नों अर्थात् Reiki Symbols का उपयोग किया जाता है जो रेकी की दूसरी डिग्री में सिखाया जाता है। रेकी प्रतीक चिह्नों के उपयोग से रेकी ऊर्जा का प्रवाह चार-पाँच गुना अधिक हो जाता है जिससे समय की समस्या भी हल हो जाती है। रेकी प्रतीक चिह्न वास्तव में उपचारक की एकाग्रता में अत्यंत सहायक होते हैं। इनसे उपचार की प्रक्रिया फ़ौरन तीव्र हो जाती है।

क्या रेकी मात्र एक रोगोपचारक पद्धति है?

रेकी मात्र एक रोगोपचारक पद्धति नहीं है अपितु संपूर्णता के साथ जीवन जीने की एक कला है। रेकी एक सम्पूर्ण उपचार पद्धति है। व्याधि को समूल नष्ट करने की पद्धति। रेकी न केवल भौतिक शरीर में उत्पन्न विभिन्न व्याधियों को दूर कर आरोग्य प्रदान करती है अपितु भावनात्मक संतुलन तथा आध्यात्मिक अभ्युदय अथवा चेतना के स्तर में वृद्धि द्वारा व्यक्ति को निरंतर स्वस्थ, सकारात्मक तथा उत्साहपूर्ण बनाए रखने में सहायक है। जो व्यक्ति नियमित रूप से रेकी का अभ्यास करते हैं वे न केवल अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ व ऊर्जस्वित बने रहते हैं अपितु बीमारियों के प्रकोप से भी बचे रहते हैं। रेकी के नियमित अभ्यास द्वारा व्यक्ति की रोगावरोध शक्ति बढ़ जाती है। अधिकतर रोगों की प्रकृति मनोदैहिक अर्थात् psychosomatic होती है।

अधिकतर व्याधियों का मूल कारण होता है मन की स्थिति या सोच। अतः रोगों का मूल कारण है तनाव, चिंता, भय, क्रोध, निराशा, अवसाद, घृणा, उत्तेजना, प्रावरोध, कुंठा, सुस्ती और आलस्य, राग-द्वेष व अहंकार आदि नकारात्मक चित्तवृत्तियों से उत्पन्न मनःस्थिति। रेकी स्वयं में एक सम्पूर्ण ध्यान पद्धति अथवा Meditation Technique है अतः रेकी ध्यान द्वारा उपचार की अन्य सभी विधियों की तरह उपर्युक्त नकारात्मक चित्तवृत्तियों से मुक्ति प्रदान कर सम्पूर्ण स्वास्थ्य की ओर अग्रसर करती है। रेकी सम्पूर्ण रूपांतर की प्रक्रिया है। आंतरिक और बाह्य रूपांतरण। शारीरिक और मानसिक कायांतर। क्योंकि रेकी शरीर में व्याप्त दूषित अथवा नकारात्मक ऊर्जा को हटाकर उसके स्थान पर स्वच्छ सकारात्मक ऊर्जा भर देती है अतः रेकी का सबसे पहला कार्य मन को नीरोग और स्वस्थ बनाना है।

जब मन स्वस्थ होगा तो शरीर भी स्वस्थ होगा और 'मानसिक स्वास्थ्य से शारीरिक स्वास्थ्य तथा शारीरिक स्वास्थ्य से मानसिक स्वास्थ्य' एक बार यह प्रक्रिया शुरू होने की देर है फिर देखिए कैसे शीघ्र ही हम संपूर्णता के तीसरे आयाम अथवा बिंदु आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् संपूर्ण स्वास्थ्य की ओर अग्रसर होने लगते हैं। अपनी स्व की चेतना से जुड़ कर परा चेतना तथा ईश्वरीय चेतना से जुड़ जाते हैं। ईश्वरीय चेतना अर्थात् ईश्वरीय ऊर्जा अर्थात् दिव्य ऊर्जा जो स्वयं रेकी है उससे जुड़ जाते हैं। यह रेकी द्वारा रेकी से जुड़ने अथवा ऊर्जा द्वारा ऊर्जा से जुड़ने की प्रक्रिया ही है। संपूर्ण रेकीमय अथवा संपूर्ण ऊर्जामय होना ही रेकी उपचार है।

आचार्य शंकर का अद्वैतवाद कहता है 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म सत्य है संसार माया, जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म और जीव अथवा ईश्वर और हम अभिन्न हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हम सबने न तो ईश्वर को देखा है और न रेकी को। दोनों ही ऊर्जास्वरूप हैं तो फिर क्यों न हम कहें कि ईश्वरीय ऊर्जा अथवा रेकी एक ही हैं। यही सत्य है, संसार सत्य नहीं, संसार रेकी से भिन्न नहीं, रेकी ही ब्रह्म है। क्यों न रेकी से एकाकार होने का प्रयास करें? संक्षेप में रेकी रोगों के उपचार के साथ-साथ आपसी संबंधों में सुधार करने, लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता करने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करने का भी महत्त्वपूर्ण स्रोत है। जप-तप और साधना ही नहीं योग-ध्यान अथवा मेडिटेशन तथा प्रार्थना के तत्त्व भी इसमें समाहित हैं। इस प्रकार जीवन जीने की कला अथवा वास्तविक या शुद्ध धर्म ही है रेकी।

रेकी सीखने-सिखाने तथा उपचार करने की पात्रता :

कोई भी व्यक्ति, स्त्री या पुरुष, किसी भी आयु में रेकी सीख सकता है तथा रेकी द्वारा उपचार कर सकता है। रेकी सीखना और रेकी द्वारा उपचार करना इतना

सरल है कि छोटा बच्चा भी इसे सीखकर लाभ उठा सकता है। रेकी का संबंध किसी भी राष्ट्र, धर्म अथवा संप्रदाय से नहीं है अतः किसी भी धर्म, संप्रदाय अथवा विचारधारा को मानने वाला व्यक्ति रेकी ऊर्जा के उपयोग से लाभान्वित हो सकता है।

रेकी से पूर्ण रूप से लाभान्वित नहीं होने का कारण है विश्वास की कमी या सीमित विश्वास, श्रद्धा और समर्पण का अभाव, संशय की प्रधानता तथा अभ्यास में शिथिलता। कहा गया है कि 'श्रद्धावान लभते ज्ञानम्' तथा 'संशयात्मा विनश्यति'। कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक संशय होगा तब तक हम किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकते। रेकी में भी नहीं। श्रद्धा, समर्पण तथा संशय रहित होने के साथ-साथ जीवन में स्थितियों और घटनाओं को स्वीकारना भी महत्वपूर्ण है। हम जितना अधिक वाद-विवाद में उलझेंगे, तर्क-वितर्क या कुतर्क करेंगे उतना ही आध्यात्मिक ऊर्जा से वंचित रहेंगे। परिणाम की चिंता भी बेमानी है। जैसे ही हम परिणाम की चिंता में ग्रस्त होते हैं हमारा आध्यात्मिक स्तर कमज़ोर पड़ जाता है। जीवनी शक्ति के प्रवाह में रुकावट आ जाती है। कर्ता भाव व स्वार्थ का त्याग करके निष्काम कर्म व प्रेम की महत्ता सभी ने स्वीकार की है। एक रेकी साधक को भी इन पर आचरण करना चाहिये। रेकी की सुचारुता में वृद्धि हो इसके लिए रेकी के प्रथमाचार्य डॉ. मिकाओ उसुई ने रेकी के पाँच सैद्धांतिक नियम बनाए हैं। प्रत्येक रेकी साधक को इनका पालन करना चाहिए।

रेकी के पाँच सैद्धांतिक नियम :

कुछ लोग रेकी से पूर्ण रूप से लाभान्वित क्यों नहीं हो पाते?

1. Just for today don't worry.
2. Just for today don't anger.
3. Earn your living honestly.
4. Show gratitude to everything.
5. Respect your elders, teachers & parents and love your youngers.

इन सिद्धातों का पालन करना रेकी उपचार में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। वैसे भी यदि मात्र इन सिद्धातों का जीवन में पालन किया जाए तो भी मनुष्य को एक नई जीवन दृष्टि प्राप्त होती है। रेकी के इन पाँचों सिद्धातों को आत्मसात किया जा सके इसके लिए इन्हें स्वीकारोक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि हम इन्हें याद रखेंगे अथवा दोहराते रहेंगे तो ये सहजतापूर्वक हमारे व्यवहार में आ जाएँगे। रेकी के ये पाँच सिद्धांत अथवा स्वीकारोक्तियां निम्नलिखित हैं–

1. आज मैं पूर्ण रूप से प्रसन्न हूँ।

Today I am absolutely happy.

2. आज मैं प्रेम से परिपूर्ण हूँ।

Today I am completely full of love.

3. मैं इमानदारी से अपनी आजीविका कमाता हूँ।

I earn my living honestly.

4. मैं हर वस्तु और स्थिति के लिए कृतज्ञ हूँ तथा प्रत्येक स्थिति को यथावत स्वीकार करता हूँ।

I have gratitude for every thing and I accept every situation as it is.

5. मुझे हर वस्तु में श्रद्धा तथा विश्वास है तथा मैं अपने माता पिता, गुरुओं तथा सभी बड़ों का आदर करता हूँ एवं सभी छोटों को प्यार करता हूँ।

I have respect and faith in everything and I respect my parents, teachers and all the elders and love my youngers.

मैं अपने रेकी प्रशिक्षण कार्यक्रमों में उपरोक्त नियमों को आत्मसात कराने का प्रयास करता हूँ। रेकी में इन सिद्धातों का वही स्थान है जो 'योग' में यम और नियम का। योग के आठ अंग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। मात्र आसन करना संपूर्ण योग नहीं है। यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह व नियम अर्थात् शौच, संतोष, तपस, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान इनके बिना योग अधूरा है। इसी तरह रेकी में भी उपरोक्त पाँचों सिद्धातों को आत्मसात करना अनिवार्य है। यदि भगवान बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग से रेकी के सिद्धातों की तुलना करें तो काफी समानता दृष्टिगोचर होती है। बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग है सम्यक वचन, सम्यक कर्म, सम्यक जीविका, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति, सम्यक

समाधि, सम्यक संकल्प तथा सम्यक दृष्टि।

क्या रेकी के साथ अन्य चिकित्सा पद्धति भी अपनाई जा सकती है?

उत्तर है अवश्य। यदि रोगी का एलोपैथी अथवा अन्य किसी चिकित्सा पद्धति से इलाज चल रहा हो तब भी उसको रेकी दी जा सकती है और देनी भी चाहिए। रेकी से ऊर्जा के स्तर में वृद्धि तथा ऊर्जा का संतुलन होने से दवाओं का असर अपेक्षाकृत त्वरित और शीघ्र होता है। दवाओं की मात्रा क्रमशः कम होती चली जाती है। यदि रोगी को दी जाने वाली दवा और भोजन को रेकी दी जाए तो उसके परिणाम भी बहुत अच्छे होते हैं। स्वास्थ्य लाभ शीघ्र संभव होता है। वैसे भी रेकी आध्यात्मिक ऊर्जा है इसमें प्रार्थना के तत्त्व भी समाहित है।

आप सब जानते हैं कि प्रार्थना अपने आप में एक उपचार पद्धति है। प्रार्थना अपने ईष्टदेव से की जाती है। रेकी ईश्वर का ही दूसरा नाम है अतः रेकी के माध्यम से उपचार प्रार्थना का ही दूसरा रूप है। दूरस्थ उपचार अथवा Distant Healing क्या है? रेकी के माध्यम से प्रार्थना ही तो है। अंतर इतना है कि इसमें रेकी प्रतीक चिह्नों की मदद ली जाती है जिससे प्रार्थना के समय एकाग्रता अपने चरम पर होती है। वैसे आपने एक डायलॉग सुना होगा। दवा जो काम कर सकती थी कर चुकी अब बस दुआ कीजिए। और आपने दुआओं का असर होते भी देखा होगा। तो फिर दवाओं के साथ भी और दवाओं के बिना भी जहाँ तक संभव हो प्रार्थना रूपी रेकी का उपयोग प्रारंभ कर दें।

❑❑

ए.डी. 106 सी., पीतमपुरा,
दिल्ली - 110034
मोबा. नं. 9555622323
Email : srgupta54@yahoo.co.in

मेडिसिन बाबा ओंकारनाथ

उम्र 89 वर्ष, 85 प्रतिशत दिव्यांग हैं; मिशन ऐसा- मरीजों को मुफ्त में बांटते हैं दवाएं।

उम्र कितनी भी हो इच्छाशक्ति से अपनी राह चुन सकते हैं। दिल्ली के ओंकारनाथ 89 वर्ष की उम्र में यही कर रहे हैं। शरीर से करीब 85 प्रतिशत दिव्यांग ओंकारनाथ हर साल करीब एक करोड़ रुपए से अधिक की दवाएं जरूरतमंद मरीजों को बांटते हैं। इसके लिए वे लोगों से बची हुई दवाइयां जुटाते हैं।

व्हील चेयर जैसे उपकरण भी देते हैं-

3 कमरों के घर में उन्होंने 2 में दवाइयों से लेकर व्हील चेयर, ऑक्सीजन सिलेंडर सहित तमाम उपकरण रख रखे हैं। मरीजों को दवाएं देने में मदद के लिए फार्मासिस्ट भी रखा है।

अमेरिका में भारतीय योग विद्या के प्रचारक स्वामी रामतीर्थ

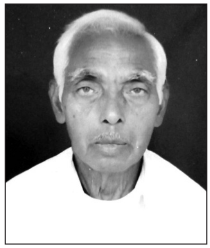

डॉ. विद्यानंद ब्रह्मचारी

भारत की मूल संस्कृति अरण्यों में प्रादुर्भूत हुई वहीं उसका विकास हुआ। संस्कृति हमारे अंतर्गत का विकास है। संस्कृति हमारे अन्तर की शीतल मंदाकिनी है। हमारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों ने, मनीषियों ने संस्कृति को समझा था। ज्ञानी लोग प्रायः अरण्यों में मौन-साधना किया करते थे। मौन-साधना जिह्वा को संयम सिखाकर तपस्विनी बनाने के लिए है। यही कारण था कि उनका जीवन मंगलमय एवं महिमामंडित था। इसी महान परम्परा में आधुनिक भारत के महान तपस्वी, योगी, ज्ञानी युवा संन्यासी स्वामी रामतीर्थ (22-10-1873 से 17-10-1906) सन् 1902 ई. में टिहरी (मध्य हिमालय) के महाराजा सर कीर्तिशाह के दरबार में निवास करते थे। उन्हीं दिनों एक घोषणा प्रकाशित हुई थी कि एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन जपान की राजधानी टोकियो में होगा। महाराजा कीर्तिशाह ने स्वामी रामतीर्थ के पास आकर यह समाचार सुनाया कि टोकियो में धर्मों की एक व्यापक सभा होने वाली है।

28 अगस्त, 1902 ई. को भारत के महान योगी, ज्ञानी और धर्मोपदेशक स्वामी रामतीर्थ जापान पहुंचे। वहां ज्ञात हुआ कि किसी ने झूठ समाचार छपवाया था। उल्लेखनीय है कि व्यावहारिक वेदांत के तेजस्वी प्रचारक स्वामी राम का टोकियो के महाविद्यालय में 7 अक्टूबर, 1902 ई. को 'सफलता का रहस्य' विषय पर व्याख्यान हुआ था। उन्होंने कहा कि प्राचीन काल में वहां अनेक ऋषि-मुनि आये थे। उन्होंने ज्ञान प्रसार किया था।

अमेरिका की यात्रा : जापान से अकेले स्वामी राम अमेरिका की ओर जाने का एक टिकट जापानियों ने दिया था। उस समय उनके पास सिवा अपने शरीर के और कुछ नहीं था। उसी जहाज में एक अमेरिकन अखबार का रिपोर्टर (संवाददाता) डॉ. अलबर्ट हिलर भी स्वामीजी का व्याख्यान का समाचार लेकर जा रहा था। जब समुद्री जहाज सेन-फ्रांसिस्को के नजदीक पहुंचा, उस समय जहाज पर हलचल मच गई। उतरने वाले सब के सब मुसाफिर अपना-अपना सामान लेकर उतावले हो रहे थे। परन्तु भारतीय योगी स्वामी रामतीर्थ चुपचाप शांत-भाव से बैठे थे। स्वामीजी की इस निश्चल शांत-मूर्ति को देखकर पत्रकार की दृष्टि उन पर पड़ी। फौरन वह स्वामीजी के पास गया और उनसे जो बातचीत हुई, पाठकों के मनोरंजनार्थ हम यहां पर देते हैं।

रिपोर्टर ने उनके वेश से उनको एक साधारण व्यक्ति समझकर प्रश्न किया– 'आपका सामान कहां है?' स्वामीजी ने उत्तर दिया– 'राम अपने साथ उतना ही सामान रखता है; जितना वह स्वयं चाहे जहां उठा ले जा सकता है। संवाददाता- आप कहां जाते हैं?' स्वामीराम- अमेरिका।

संवाददाता- क्या इसी ड्रेस में आप अमेरिका जा रहे हैं? स्वामीराम– जी हां। संवाददाता- तो आपकी सहायता करने वाले आपके मित्र वहां होंगे? स्वामीजी- हां हैं। संवाददाता- आपके पास कितनी पूंजी है? स्वामीराम– संसार में जितनी पूंजी है, वह सब राम की ही है। संवाददाता– मैं संसार की बात नहीं पूछता, आपकी सम्पत्ति जानना चाहता हूं। स्वामीराम– संसार मुझमें है और मैं संसार में, इसलिए संसार में जो कुछ है, वह सब मेरा ही है। संवाददाता- (झुंझलाकर) तुम भी विचित्र मनुष्य हो। अमेरिका जैसे सम्पन्न और शिक्षित देश को जा रहे हो, वहां तुमने न तो ठहरने का प्रबंध किया है और न तुमने कुछ रुपया-पैसा और सामान अपने साथ लिया है, वहां तुम को भूखों मरना होगा।

यह सुनकर राम खिलखिलाकर हंसे और बोले- भाई, राम (रामबादशाह) तो इस सारी दुनिया का मालिक है। अमेरिका में तो क्या, वह कहीं भी भूखा नहीं रह सकता। बादशाह दुनिया के हैं मुहरे मेरी शतरंज के। दिल्लगी की चाल है सब रंग सुलहो जंग के।। राम की यह बात सुनकर संवाददाता ने बड़े गौर से राम के चेहरे को देखा और पूछा कि क्या आप वही स्वामी राम तो नहीं हैं, जिनके व्याख्यानों की रिपोर्ट (प्रतिवेदन) अमेरिकन अखबारों को भेजता हूं। यह सुनकर राम जरा मुस्कुराये। संवाददाता समझ गये और उसने बड़े तपाक से रोम से हाथ मिलाया और उसी समय राम के आगमन का तार (टेलीग्राम) अमेरिका को खटका दिया।

दूसरे शब्दों में प्रश्न करने वाले पत्रकार के कंधे पर हाथ रखकर स्वामीजी ने उत्तर दिया– 'आप'। 'आप'– इस शब्द का उस अमेरिकन संवाददाता पर इतना प्रभाव पड़ा कि जब तक स्वामीजी अमेरिका में रहे, तब तक उनके खाने-पीने रहने आदि का सब प्रबंध करता। तो हां, जब राम सम्राट अमेरिका के बन्दरगाह पर पहुंचे तब वहां राम के स्वागत के लिए बहुत से अमेरिकन सज्जन मौजूद थे। तब राम ने मुस्कुराकर उस संवाददाता से कहा– क्यों साहब! अब भी मुझको भूखा मरना पड़ेगा?

संत कवि योगीस्वामी रामतीर्थ भरी जवानी में हिमालय के गिरिगह्वरों में निवास कर सतत आत्म-चिन्तन और एकांत वास से अपने पवित्र चरित्र को उस श्रेणी तक पहुंचा चुके थे, जहां पहुंच कर मनुष्य समझने लगता है– सारा संसार मेरा है और मैं उसका हूं। यही कारण था कि जो उन्होंने योग विद्या का जहाज पर प्रयोग किया था। यह भारतीय योग विद्या यानी गुप्त विद्या अति प्राचीनकाल से सर्वोपयोगी मानी जाती है। इसी योग विद्या के बारे में जानने के लिए इंगलैंड के पत्रकार पाल ब्रंटन सन् 1914 में भारत आये थे। उन्होंने गुप्त भारत की खोज (सर्च इन सिक्रेट इंडिया) पुस्तक भी लिखी थी।

प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि देव भूमि उत्तराखंड के चमोली जिलांतर्गत फूलों की घाटी के आसपास सिद्ध योगियों का निवास है। साधक समाज में 'श्री सिद्ध मंडलाश्रम' एक रहस्य-पूर्ण क्षेत्र है। उल्लेखनीय है कि स्वामीजी डॉ. अलबर्ट के यहां ठहरे थे। तब दूसरे दिन वहां के बुद्धिजीवियों ने कहा कि आप विज्ञापन छपाकर प्रचार कराइये कि लोग आकर आपका व्याख्यान सुनें।

स्वामी रामतीर्थ के समकालीन बिहार कोशी क्षेत्र के परम सिद्ध योगी बाल ब्रह्मचारी परम पावन महर्षि में हीं परमहंस जी महाराज (28-4-1885-8-6-1986) ने अपने प्रवचन में स्वामीजी के अमेरिका आगमन पर बताया था कि स्वामी राम ने कहा– 'मैं इस तरह विज्ञापन नहीं करता हूं। आपके शहर के प्रख्यात डॉक्टर मेरे पास आवें। मेरे पास डाक्टर को छोड़कर

कोई न आवें। वे ही डॉक्टर मेरा विज्ञापन विवरण करेंगे। ऐसा ही हुआ। राम ने उनके सामने अपने शरीर को योग विद्या द्वारा मृत प्राय कर दिया। अमेरिका के सभी बड़े-बड़े डॉक्टरों ने 'राम' के शरीर को पूर्णतया जांच पड़ताल करने के अनन्तर एकदम मृतक पाया। यहां तक कि दिल की धड़कन और नाड़ियों का स्पन्दन बिलकुल शांत था। पुनः वह जिन्दा कैसे हुए। यह सब देखकर डाक्टरों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। तब राम बादशाह ने कहा–'मैं जिंदा था, अभी जिन्दा हूं और जिन्दा रहूंगा। यही भारतीय योग विद्या है। इसी योग विद्या के कारण भारतीय धर्म और संस्कृति जगत गुरु के नाम से विख्यात है।' (शांति संदेश, मासिक पत्रिका, जनवरी 1956 ई., भागलपुर, बिहार)।

आज वह मानव देवता हमारे बीच नहीं है पर अपने पीछे उसने एक प्रकाश छोड़ दिया है, जिसे अपना कर हमारा समाज, हमारा राष्ट्र समुज्ज्वल और समुन्नत हो सकता है।

दूसरे दिन केलिफोर्निया के एक समाचार पत्र ने स्वामीजी के विषय में इस प्रकार लिखा–'हम सुनते थे कि भारतवर्ष के हिमालय पर्वत पर अतर्क्य ज्ञानवान योगी हैं, परन्तु आज उनमें से एक को हम अपनी आंखों देख रहे हैं। आपका अपूर्व ज्ञान देखकर यह मालूम होता है कि नये जगत के ज्ञान का अथवा सुधार का मार्ग ठीक नहीं है, क्योंकि इस वर्तमान ज्ञान वृद्धि के मार्ग का अबलंब करने वाले किसी देश में आज तक एक भी रामतीर्थ उत्पन्न नहीं हुआ और न भविष्यत् में उसके उत्पन्न होने के लक्षण ही दिखायी पड़ते हैं।

स्वामीजी जब अमेरिका में थे तब वहां के 26वें राष्ट्रपति नॉवेल शांति पुरस्कार प्राप्त मानवतावादी थियोडोर रूजवेल्ट आप का दर्शन करने दो बार आपके पास आये थे। राष्ट्रपति ने स्वामीजी से कहा कि, यदि आपको किसी चीज की जरूरत हो तो निःसंकोच होकर कह दिया कीजिये। इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया– 'राम को किसी चीज की जरूरत नहीं। सारे संसार की दौलत और सब बादशाहों की बादशाहत राम की है। रामबादशाह को किसी बात की परवाह नहीं। वह बादशाहों का बादशाह है। राम ने कुछ भीख मांगने के लिए संन्यास नहीं लिया है।'

इसी तरह एक बार और एक अमेरिकन सज्जन ने आपसे पूछा कि 'बिना रुपये-पैसे के आपका कैसे काम चलता है?' आपने उत्तर दिया था कि 'राम को किसी चीज की जरूरत ही नहीं पड़ती, और जब पड़ती है तब वह चीज आप ही आप उसे मिल जाती है। क्योंकि राम सारी दुनिया से प्रेम करता है, इसलिए सारी दुनिया भी राम को प्यार करती है, फिर चाहे वह अमेरिका में हो चाहे भारत वर्ष में सारा संसार राम का घर है।' (पंडित गणपति कृष्ण गुर्जर- श्री स्वामी रामतीर्थ, प्रकाशक बाल बोध कार्यालय, काशी, सन् 1914 ई. पृ. 53-54)।

अमेरिका में राम की गूंज–

स्वामी रामतीर्थ जैसा धर्मोपदेशक वहां पहुंचे और अमेरिकन लोग उसके गुणों की पूजा न करें, यह कभी हो नहीं सकता। स्वामीजी में सबसे बड़ा गुण जो था, वह उनकी मन, वाणी और कर्म की एकता थी। वे जो कहते थे, हृदय से कहते थे और कर्म से उसको करके दिखलाते थे। वह सारे विश्व को ब्रह्ममय समझते थे। अमेरिका में स्वामी राम के व्याख्यानों की धूम मच गई। उन्होंने वेदांत के आध्यात्मिक उपदेशों को पश्चिम के व्यावहारिक विज्ञान में ढाल कर इस रूप में उनके सामने रखा कि अपने देश में इस विषय की उन्नति का उनको अनुभव होने लगा और जिस पूर्व को अब तक वे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, अब श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखने लगे।

कहना न होगा उन्होंने अपने आध्यात्मिक तेज से समस्त संसार को अभिभूत कर दिया था। स्वामीजी एक उच्च कोटि के योगी और कवि थे। उन्होंने दिव्य वाणी का सृजन किया और यह भी घोषित किया कि

ईश्वर (ब्रह्मा) ने संसार को जन्म दिया, पर मैं वह सृष्टिकर्ता हूं, जिसने ईश्वर को जन्म दिया। उन्होंने आत्म अध्ययन, स्वतंत्रता, दिव्यता को साकार कर दिखाया। उन्होंने मानव को त्याग, आत्मविश्वास, कर्म, निष्ठा, दृढ़ता, एकता और विश्वप्रेम की व्यावहारिक शिक्षा देकर सत्य और मुक्ति का मार्ग दिखाया।

स्वामीजी व्यावहारिक वेदांत का प्रचार करने और भारतीय योग विद्या का प्रयोग के जनमानस के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया। जब अमेरिका छोड़ने की तिथि निश्चित हो गई। उनके प्रशंसकों ने उन्हें सम्मान पूर्वक एक समारोह में जो कविता कही गई, उसके अंतिम भाग का भावार्थ इस प्रकार था– हे माधुर्य मूर्ति राम, हम तुम्हें अभिवादन करते हैं। तुम्हारा वह तेजस्वी स्मित, कितना प्रेरक रहता है। पाताल वासी आत्माओं को भी प्रफुल्ल तथा प्रोत्साहित करने का सामर्थ्य उसमें है। इस धरती पर सब कुछ अस्थिर है, परिवर्तनशील है। जो आज है वह कल नहीं। इसलिए हमारी आपकी भेंट कदाचित होगी, कदाचित होगी भी नहीं। लेकिन हम जानते हैं कि तुम्हारा सब शुभ ही होगा। क्योंकि तुम्हारा जीवन ईश्वरमय है और ईश्वर तुम्हारे हृदय में विराजमान है। तुम्हारे रूप में ईश्वर ही प्रकट हुआ है।

अमेरिका से वापस लौटते समय कुछ समय मिश्र में बिताया। 'अलबहाब' नामक दैनिक पत्र में स्वामीजी का परिचय इस ढंग से दिया गया था– 'स्वामी रामतीर्थ नाम के एक विश्वयात्री इस समय अपने देश में पधारे हैं। वे संन्यासी हैं और बड़े ईश्वरभक्त हैं। वे निर्भय, तेजस्वी, सुन्दर तथा उच्च श्रेणी के विद्वान हैं। अंग्रेजी, हिन्दी, अरबी तथा फारसी भाषाओं पर उनका बड़ा प्रभुत्व है। उनकी मुख मुद्रा हमेशा प्रसन्न रहती है। वे स्वयं को बादशाह राम कहते हैं, वास्तव में वे दुनिया के बादशाह हैं, सम्राट हैं। वह तो एक भगवान का नमूना है। वह ईश्वर का चमत्कार हैं।' 8 दिसम्बर 1904 ई. को स्वामीजी बम्बई बंदरगाह में उतरे।

इस तरह जीवन भर प्रदेश, देश और विदेशों में जाकर व्यावहारिक वेदांत का प्रचार करते हुए 33 वर्ष की उम्र में दिनांक-17.10.1906 ई. को दीपावली के दिन नाटकीय ढंग से टिहरी में बिलंगना नदी में जल समाधि ले ली।

❑❑

रामतीर्थ कुंज, ग्राम-पोस्ट- रॉकोडीह,
वाया-कोशी कॉलेज,
खगड़िया (बिहार) 851205

■ *बुद्धिमान मनुष्य ऐसे व्यक्ति की सेवा न करें जो उसके गुणों को नहीं जानता। ऐसे व्यक्ति की सेवा से कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता जैसे जोती हुई ऊसर भूमि में कुछ पैदा नहीं होता।*

-पंचतन्त्र

■ *विपत्ति में, अधिक संकट में अथवा प्राणांतक भय उपस्थित होने पर जो अपनी बुद्धि से विचार करता हुआ धैर्य धारण करता है, वह अंत में दुखी नहीं होता।*

- वाल्मीकि रामायण

भारतीय इतिहास में लोकभाषा हिन्दी की कटुता पर विजय

डॉ. सहदेवसिंह चौहान

सारांश– कटुता और स्नेह, विनाश और निर्माण, प्रजा पीड़न और प्रजा पालन का यह परस्पर विरोधी तत्व भारतीय इतिहास की गंभीर समस्या है। दुर्भाग्य से 'तुर्क सुल्तान' केवल अपवाद के रूप में ही कटुता, विनाश और प्रजापीड़न की परम्परा का परित्याग कर सके। वे भारत की उदात्त भावनाओं से पूर्ण परिचय कभी प्राप्त न कर सके और कटुता की दीर्घ जीवी परम्पराएँ छोड़ गये। किन्तु उसमें भी एक अद्‌भुत नव जागरण एवं नवोन्मेष का स्वर सुनाई देता है। उसमें कहीं भी तुर्कों या मुसलमानों से आंतकित होने का वह स्वर सुनाई नहीं देता जो ईस्वी बीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने उन पर आरोपित कर दिया है। हिन्दी लोकभाषा के रूप में उभरी थी, उसका परिपोषण सभी जातियों और वर्गों ने किया था, बड़े प्रयास से उसे सार्वदेशिक रूप दिया गया था, उसमें ऐसा बहुत साहित्य लिखा गया था, जो साम्प्रदायिक न होकर लोकाभिमुख था। संकेत :- जफरनामा, किताबै नौरस, सबरस, सुरत्राण, हकायके हिन्दी, मधुमालती, छिताई चरित, खानेजहां।

तैमूर के आक्रमण के पूर्व भारत के तुर्क और हिन्दू कितने निकट आ गये थे, इसकी कुछ झलक तैमूर के राजकीय इतिहासकार शफुद्दीन अली यजदी के जफरनामे[1] से प्राप्त होती है। तैमूर की तलवार के घाट यद्यपि हिन्दू अगणित संख्या में मारे गये। भारत के तुर्क और नवमुस्लिम भी उसके प्रसाद से वंचित न हुए। भारत के तुर्क (यानि मुसलमानों) ने भी तैमूर के आक्रमण को विदेशी आततायी का आक्रमण माना था। भटनेर के राव दुलचीन (राव है तो हिन्दू ही होगा) के नेतृत्व में तुर्क और हिन्दू दोनों ने मिलकर तैमूर का सामना किया था। यद्यपि यजदी ने यह नहीं लिखा, परन्तु हमारा अनुमान है कि वे हिन्दी में ही एक दूसरे को प्रोत्साहित कर रहे होंगे, कुछ तो स्नेह होगा ही, एक ओर से लड़ने वालों में। अब यजदी कहता है, इस युद्ध में तैमूर ने दस हजार नागरिकों को तो मारा ही, जो लोग अपने आपको मुसलमान कहते थे उनके परिवारों के सिर भी भेड़ों के समान काटे।[2] तुगलुकपुर के तुर्क प्रशासक मुबारकखां का इलाका हिन्दुओं का था। उनकी सक्रीय सहायता से खां ने तैमूर का सामना किया। यजदी ने नहीं लिखा, हमारा विचार है मुबारक खां ने हिन्दुओं को हिन्दी में गंगा-तुलसी के नाम पर अपने साथ लिया होगा। हिन्दू-मुस्लिम संयुक्त संघर्ष के पश्चात ही तैमूर ने दिल्ली लूटी थी।

इस प्रकार राजनीति और तलवार की बात छोड़कर धर्म-सम्प्रदायों में भी कुछ अद्‌भुत दृश्य तुर्क सल्तनत में दिखाई देते हैं। तुर्कों की भारत विजय से भारतीय जन समूह आतंकित तो था

ही, साथ ही इसमें यह भी आरोप है कि हिन्दी हिन्दुओं की ही भाषा है, हिन्दी साहित्य हिन्दुओं की ही देन है, शेख फरीदुद्दीन गंजशकर, अमीर खुसरो और मौलाना दाउद हिन्दू नहीं थे, सधारू भी पारिभाषिक रूप से हिन्दू नहीं था, पर हिन्दी उनकी थी। 15वीं शताब्दी का महान पद रचयिता बक्शू भी हिन्दू नहीं था, उसी का समकालीन कुतबन हिन्दू नहीं रहा था, रहीम पक्के मुसलमान थे, रसखान भी हिन्दू नहीं था और न बीजापुर का सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह हिन्दू था. इन सबकी आत्माओं का अपमान तो इस दृष्टिकोण से होता ही है, उसमें हिन्दुओं का भी अत्यन्त विदूरूप चित्र प्रस्तुत किया गया है। सामरिक जय-पराजय संयोग की बात है, अनेक परिस्थितियों पर आधारित होती है। तथापि पराजय के पश्चात जो देश या जाति 'लोहा लेने की शक्ति' खो बैठती है, असाहायावस्था प्राप्त कर निराश हो जाती है, वह सदा के लिए मर जाती है, उसकी स्मृति केवल इतिहास के पन्नों में रह जाती है। विश्व के इतिहास में इस प्रकार की अनेक जातियाँ रही हैं, जिनके नाम भर शेष रह गये हैं। परन्तु हिन्दू आज भी हिन्दू के रूप में जीवित है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के हिन्दू राजाओं ने तो तुर्क सुल्तानों का जमकर, समान स्तर पर, प्रतिरोध भी किया था और मैत्री भी। मुसलमान हिन्दी और हिन्दू-हिन्दी का काव्य रचना के क्षेत्र में दिल्ली के मौलाना दाऊद[3] समन्वय कर चुके थे। इस शताब्दी के हिन्दी के सपूतों के प्रयास से यह समन्वय देशव्यापी बन गया था। झगड़ा हिन्दू धर्म और इस्लाम का उतना नहीं था, जितना विभिन्न भारतीय राज्यों के अपने अस्तित्व बनाए रखने या विस्तृत राज्य प्राप्त करने का था। इसी शताब्दी में काश्मीर का सुल्तान जैनुल आबेदीन (1420-1470 ई.) हुआ था, जो दशावतार, राजतरंगिणी और महाभारत का फारसी में अनुवाद करा रहा था और बलपूर्वक मुसलमान बनाए गये हिन्दुओं को फिर से हिन्दू बन जाने के लिए प्रेरित करता था।[4] उसकी मैत्री समानस्तर पर मेवाड़ के महाराणा कुंभा से भी थी और ग्वालियर के महाराजा डूंगरेन्द्रसिंह से भी।[5] अपने हम मजहब बहलोल लोदी से उसे नफरत थी। इसी शताब्दी में महाराणा कुंभा और ग्वालियर के महाराजा कीर्तिसिंह देव ने 'हिन्दू सुरत्राण[6] के विरुद धारण किये थे। इस विरुद में एक ओर तुर्क या अफगान सुरत्राणों से समता का दावा निहित था, तो दूसरी ओर 'सुरत्राण' या सुल्तान विरुद के प्रति ममत्व भी निहित था। इसी शताब्दी या युग में कालपी का सुल्तान नसीरशाह हुआ था, जिसके विरूद्ध फारसी इतिहास लेखकों ने यह आरोप लगाया है कि उसने 'रोजा नमाज त्याग कर मुस्लिम स्त्रियों को नृत्य की शिक्षा हेतु हिन्दू नायकों को दे दिया है।[7] सिकन्दर लोदी हिन्दू धर्म का घोर शत्रु था, परन्तु भाषा के मामले में उसने भी कुछ और प्रकार का रुख दिखाया था। ग्वालियर का गोपाल नायक, उसे हिन्दी पद सुनाकर पुरस्कार ले आया।[8] मूर्तिभंजक और कंजूस सिकन्दर लोदी हिन्दी से कोई द्वेष नहीं रखता था। उसी की दिल्ली के एक कोने में कायस्थ ईश्वरदास हिन्दी में पौराणिक कथाएँ सुना रहा था।

हिन्दू समाज के भीतर भी इस शताब्दी में एक अभूतपूर्व उत्क्रान्ति के दर्शन होते हैं। विभिन्न जातियाँ और वर्ग अपने प्राप्य सम्मान के लिए संघर्षरत दिखाई देते हैं। चातुर्वण्य व्यवस्था डगमगा उठी थी। इसके पूर्व कि वैश्य, शूद्र और नारी की चित्तवृत्ति पर विचार किया जाय, एक अन्य प्रकार की जाति की स्थिति पर विचार कर लेना आवश्यक है, जिसका प्रतिनिधि है हरिसिंह। कटिहर का हरिसिंह इतिहास प्रसिद्ध है उसने सन् 1418 ई. में खिज्रखां सैय्यद से डटकर संघर्ष किया था। हरिसिंह की माता ब्राह्मणी थी और हरिद्वार के कुंभ में धर्मलाभ के लिए गयी थी। अचानक तुर्को ने आक्रमण किया और उस तरुणी के साथ बलात्कार किया। हरिसिंह की माता गंगा में डूबकर प्राण देना चाहती थी, उसे एक साधु ने बचाया। उस बलात्कार का पुष्प था हरिसिंह।[9] ब्राह्मणों ने उसे घृणा की दृष्टि से देखा। क्षत्रियों में वह खरा नहीं माना गया। तुर्क तो उसकी विषम सामाजिक स्थिति के निर्माता ही थे। वह कटुता से भर गया। उसकी तलवार में शक्ति थी। उसने तुर्को का भी प्रतिरोध किया और ब्राह्मण-क्षत्रियों का भी। कटिहर में उसने अपने

बाहुबल से अर्जित छत्र धारण किया। जब तक बना तब तक लड़ता रहा, कुमाऊं चला गया। उसने समाज के शोषित, पीड़ित और दलित वर्ग का संगठन किया और उच्च तथा सम्पन्न व्यक्तियों का विरोध किया। मरने पर इसी दलित समाज ने गांव-गांव में उसके थान (स्थान-चबूतरे) बनाये और उसे 'जागर' या 'जाग्रति का दूत माना। यदि हरिसिंह तलवार के स्थान पर खंजड़ी पकड़ लेता और गाने लगता तब उसकी वाणी में वही ज्वाला होती, जो इस शताब्दी के साहित्य में है।

वैश्यों का स्थान चातुर्वण्य व्यवस्था में ब्राह्मण और क्षत्रिय से नीचे समझा जाता था, परन्तु समृद्धि में वे राजाओं से कभी कम नहीं रहे। इस शताब्दी में यह वर्ग भी अपनी जाति का महत्व प्रतिपादित करने के लिए कमर कस कर उठ खड़ा हुआ। उसकी वाणी का स्वर चतुर्भुजदास निगम की मधुमालती में सुनाई देता है। चतुर्भुजदास निगम ने अपनी कामकथा का नायक वैश्य कुमार को बनाया है। यह तो पहले अपभ्रंश की कामकथाओं में भी हुआ था। परन्तु निगम ने इस वैश्य कुमार के साथ एक ब्राह्मण कुमारी तथा दूसरी क्षत्रिय कुमारी से विवाह रचाया। यह सब अनायास नहीं हुआ था। सप्रयास किया गया था, यह निगम ने स्पष्ट कर दिया है–

तै मुख ते बनियां कहो, अन बनियां क्यों होय।
अन बनियां बनियां भये, बनियां बनियां दोय।
दो बनरी एक बनरा बन्या, तामें एक बामन की कन्या।
रजपूत द्विज बनिक बिसेखी,
त्रिकुट मिले तहां कहं कुल देखी।[10]

बणिक दूल्हा और राजपूत तथा ब्राह्मण दुल्हनों का यह 'त्रिकुट' उस युग में क्रान्तिकारी ही माना गया होगा। जिन शताब्दियों को हिन्दी का 'वीरगाथाकाल' कहा गया है, उसमें जनता की चितवृत्ति या जनवाणी की खोज व्यर्थ है। तुर्कों के आक्रमण के पूर्व ही जनता का कचूमर निकाला जा चुका था। उस समय के मानव का बाजार भाव ज्ञात नहीं हो सका है, केवल अलाउद्दीन के समय के बाजार भाव मिलते हैं। जनता के नर मादा दोनों किस्म के जीवधारियों को मूल्य कुछ टके था, जो अधिक सुन्दर या कला कुशल थे, उनके दाम कुछ ऊंचे थे।[11] तुर्कों के आगमन के पूर्व ही समस्त समृद्धि और सम्मान राजकुलों, मठों, पुरोहित-पण्डों तथा श्रेष्ठिकुलों तक सीमित हो गई थी। कुछ कायस्थ भी समृद्ध थे। तुर्कों के आगमन के पश्चात भारतीय तंत्र में कुछ नये राजकुल अर्थात तुर्क सामन्त, एक अन्य प्रकार के मठ अर्थात खानकाह तथा एक अभिनव पुरोहित वर्ग अर्थात शेख, सूफी, उल्मा, मुल्ला, मौलवी और जुड़ गये थे। इनकी भाषा थी, साहित्य नहीं था। साहित्य के क्षेत्र में जनता मुखर होना प्रारम्भ हुई थी, सन् 1300 ई. के पश्चात, जब तुर्क सल्तनत विस्तार में बढ़ गयी, भीतर से खोखली होती गयी।

पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते ही यह 'जनता' अनेक स्वरों में मुखर दिखाई देती है। ढोल, गंवार, शूद्र, पशु और नारी[12] के पंचम वर्ग में ढोल, गंवार और पशु ने तो अपना स्वर कभी न बदला, नारी और शूद्र अपने प्राप्य अधिकार की उपलब्धि के लिए छटपटाते दिखाई देते हैं। इसी युग में रैदास बड़े उच्च स्वर में 'ऊंचे' बनने का उद्घोष करता है और उसी की चरण धूलि लेकर अभिजात कुल की अनिद्य सुन्दरी मीरा कुलकानि को तोड़कर पूर्णतः मुक्त हो जाती है। जाखू मनिहार ने उस वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया है, जिसमें जाति का निर्णय जन्म से न माना जाकर कर्म से माना गया है।

समाज के इस दलित पीड़ित शोषित वर्ग की वाणी लोक भाषा हिन्दी के माध्यम से ही मुखरित हुई थी, उसमें कुछ काव्य रस भी है। यह वह वर्ग था जिससे लाभ तो सब उठाना चाहते थे, हिन्दू भी और तुर्क अफगान भी, परन्तु बदले में न उसे सम्मान देना चाहते थे, न समृद्धि। इस वर्ग के जिस अंग ने इस्लाम गृहण कर लिया था, उसकी दशा भी अच्छी नहीं थी, इधर से भी गया, उधर से भी गया। उसकी दुविधा को रामानन्द ने देखा और उसे राम नाम का मंत्र देकर संजीवनी बूटी प्रदान की। रामानन्द के बारह शिष्यों में रैदास, कबीर, धन्ना, सेन प्रमुख थे। रामानन्द द्वारा दी गई छोटी सी चिनगारी को इनके द्वारा विशाल मशालों के रूप में प्रज्ज्वलित किया गया। यदि रैदास और कबीर जैसे

महान प्रचारक उत्पन्न न हुए होते तब यह समस्त वर्ग हीन भावना से त्रस्त होकर इस्लाम अंगीकार कर लेता। उस समय दलित शोषित वर्ग में आत्म विश्वास और शक्ति उत्पन्न करना ही रैदास और कबीर की वाणियों की प्रेरक भावना है, परम लक्ष्य है। उसमें जो भक्ति या धर्मोपदेश है, वह साध्य नहीं, साधन है। उस युग में धर्म के आडम्बर रहित कोई बात सुनी ही नहीं जाती थी। सन्तों का वास्तविक उद्देश्य समाज का कल्याण साधन था। इसके ज्वलन्त उदाहरण गुरु नानक देव भी हैं। वे इस युग की ही देन हैं। गुरुग्रन्थ साहेब के कुछ पदों में उनके द्वारा अपने युग का जो वर्णन किया गया है वह कोई युगद्रष्टा ही देख सकता था और उसे थोड़े से शब्दों में ही प्रस्तुत कर सकता था। यह उन्हीं बीज मंत्रों का प्रभाव था कि विभिन्न वर्गों से दीक्षित नानक के शिष्य सिंह बन गये।

इस युग में एक बोधन ब्राह्मण हुआ था, सिकन्दर लोदी के राज्य में। बोधन ने यह उपदेश देना प्रारम्भ किया 'इस्लाम भी सत्य है, हिन्दू धर्म भी सत्य है। यह बात इस्लाम के आलिमों के कान तक पहुँची, काजी प्यारा और शेख बुढ्न ने एक दूसरे के विरुद्ध फतवे दिये। उस प्रदेश के हाकिम आजम हुमायूं ने बोधन को काजी प्यारा और शेख बुढ्न के साथ सिकन्दर लोदी के पास सम्भल भिजवा दिया। सुल्तान ने प्रत्येक दिशा के प्रतिष्ठित आलिमों को बुलवाया। न्याय सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। बहुमत से निर्णय यह हुआ कि बोधन को बन्दीगृह में डालकर उसे इस्लाम की शिक्षा दी जाय और यदि वह इस्लाम स्वीकार न करे तो उसकी हत्या कर दी जाय। बोधन ने मृत्यु को स्वीकार किया। उसकी हत्या कर दी गयी और सब शेख उल्मा आदि को पुरस्कार देकर विदा किया गया।[13] बोधन ईमान धर्म का पक्का था फिर उसने राम-रहीम' के ऐक्य का मन्त्र घोष क्यों किया? वह इस शताब्दी की हिन्दू जनता के एक बड़े अंश की चित्तवृत्ति का प्रतिनिधि है। वे तुर्कों और अफगानों को समझा देना चाहते थे, कि झगड़ा केवल राजनीति में है, धर्म में नहीं। धर्म सब समान हैं, उनका लक्ष्य एक है। बोधन की वाणी को उस न्याय सभा के कुछ सदस्यों ने यानि मुसलमान धर्माध्यक्षों के एक अंश ने ठीक भी माना था। किन्तु मुल्लाओं के बहुमत में उसकी वाणी न सुनी गयी। असफल होना महत्वपूर्ण नहीं है, किसी विचारधारा को दृढ़तापूर्वक कहने की इच्छाशक्ति प्रमुख महत्व की बात है। इस शताब्दी की जनता में, प्राण की बाजी लगाकर भी, समन्वय की बात कहने की शक्ति उत्पन्न हो गयी थी।

धर्म-सम्प्रदाय की यह धूल धीरे-धीरे हटने लगी थी। सबसे पहले भारतीय संगीत ने सूफियों के हृदय को स्पर्श किया। सूफी सभाओं (संगीत सभाओ) में आराधना गीत के रू प में विष्णुपद, ध्रुपद और होरी धमार गाये जाने लगे। कठिनाई यह थी कि इन पदों में सरस्वती, गणेश, कृष्ण, राधा आदि की भी स्तुतियाँ थीं। उल्माओं और मुल्लाओं ने इस प्रकार के गीतों का उपयोग उचित नहीं माना। उसका समाधान जिस प्रकार किया गया उसे नितान्त मौलिक सूझ माना जायेगा। मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने सन् 1566 ई. में 'हकायके हिन्दी' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें विष्णुपद, ध्रुपद तथा होरी-धमार में प्रयुक्त देवताओं के नामों की अभिनव व्याख्या की गयी थी। जो कुछ इस तरह से थी– सर्तुती (सरस्वती) से तात्पर्य ईश्वर की दया से निरन्तर तथा लगातार पहुँचने एवं परमेश्वर के अस्तित्व की ओर संकेत होता है, जो अनन्त है।[14] कृष्ण से रिसालत पनाह सल्लम (मुहम्मद साहब) की ओर संकेत होता है।[15] उद्धव के उल्लेख से रिसालत पनाह सल्लम (मुहम्मद साहब) की ओर संकेत होता है। कभी इसका तात्पर्य उसके अनुयायियों से होता।[16] यशोदा की चर्चा हो तो तात्पर्य खुदा की दया से है तथा कृपा का वह सम्बन्ध समझा जाता है जो उसकी ओर से संसार वालों के लिए पूर्व से ही निश्चित है।17 बिलग्रामी ने यह शब्दकोश इस कारण प्रस्तुत किया था कि सूफी लोग अपनी धर्म सभाओं में मानसिंह की राजसभा के ध्रुपद, विष्णुपद और होरी-धमार गाने लगे थे। इस्लाम के आलिम कृष्ण, सरस्वती की वन्दना को कुफ्र न समझें इस कारण इस अभिनव कोश को बनाया गया था। यह निश्चित था कि इस अभिनव कोश से मुल्लाओं

का समाधान नहीं हुआ होगा। यदि पंडित भी इसे देख लेते तब झगड़े की स्थिति उत्पन्न हो जाती। तथापि मुल्लाओं-पंडितों के बाहर भी एक भारतीय समाज था और वास्तविक भारत वही था।

हिन्दी साहित्य के आज के अतिव्यस्त और अन्तर्मुखी विधाताओं को यह सब समझने में विलम्ब लगेगा, तथापि कभी न कभी यह समझा जा सकेगा कि इस युग में समन्वयी वृत्ति और सशक्त शैली का प्रभाव पड़ा था और वह वट वृक्ष के रूप में फूट पड़ा था, वह ग्वालियर, जौनपुर, दिल्ली, कश्मीर, बीजापुर तक फैल गया था। कल्याणमल तोमर (1480-1486 ई.) ने हजरत सुलेमान को संस्कृत आख्यान 'सुलैमच्चरित' का नायक बनाया।[18] कल्याणमल के राजकवि नारायणदास ने छिताई चरित[19] की रचना हिन्दू और अफगानों के बीच सद्भाव बढ़ाने के उद्देश्य से की थी। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि नारायणदास के पहले के लगभग समस्त ज्ञात हिन्दी कवियों ने केवल पौराणिक कथानकों पर ही आख्यान काव्य लिखे थे। नारायणदास पहला हिन्दी कवि है जिसने अलाउद्दीन खिलजी को अपने आख्यान काव्य का नायक बनाया। इस काल में नारायणदास, दामोदर (विल्हवचरित), साधन (मैनासत) तथा चतुर्भुजदास (मधुमालती) जैसे कवि हुए हों, उसके लिए यही कहा जा सकता है कि यह कटुता पर हिन्दी साहित्य की समृद्धि का युग था। मानसिंह तोमर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गो के संगीताचार्यो को सम्मान दिया।[20] परन्तु जो सांस्कृतिक परम्पराएँ उनके द्वारा स्थापित की गई थीं, वे कभी नष्ट न हो सकीं। शेरशाह सूर के उत्तराधिकारी इस्लामशाह (1545 ई.) ने ग्वालियर को अपनी राजधानी बनाया और ध्रुपद के गीतों की रचना आरम्भ की।[21] मालवा में सुल्तान बाजबहादुर और रूपमती ने भी ध्रुपद के गीतों में सागर, ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु की वन्दना प्रारम्भ की।[22] निजामुद्दीन औलिया का ज्येष्ठ शिष्य भगवान कृष्ण की प्रशंसा में हिन्दी कविताएं लिखता था, जो शीघ्र ही दिल्ली की सड़कों पर गाई जाने लगी।[23] सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (1324-51 ई.) ने हिन्दू विद्वानों तथा कवियों को संरक्षण प्रदान किया। शिहाबुद्दीन अल उमरी (मसालिकुल आबसार) के अनुसार उसके दरबार में एक हजार अरबी, फारसी तथा हिन्दी के कवि थे।[24] इस युग का एक और विचित्र उदाहरण 'खानेजहां राजा नरसिंहदेव तोमर' भी है। तुर्को के सम्राज्य के समय में, अर्थात 'हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल' में यह विरुद हिन्दुओं को मिला तो था परन्तु इस्लाम ग्रहण करने के पश्चात और कुछ मन्दिर लूटने के पश्चात ही मिल सका था। परन्तु इस शताब्दी में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह (1526-1537 ई.) ने यह विरुद मानसिंह तोमर के भतीजे तिलक छापे लगाने वाले नरसिंहदेव तोमर को दिया था और उसे अपना दाहिना हाथ बनाया था।[25] परन्तु सर्वाधिक चमत्कार पूर्ण कृत्य था, बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह (1580-1627 ई.) का। उसने स्वयं अपनी रचना 'किताबे-नौरस' का मंगलाचरण इन शब्दों में प्रारम्भ किया।

नवरस स्वरजुग जग जोति आणी सवे गुनी
यौ सत् सरसुती माता इबराहीम प्रसाद भई दुनी।[26]

इब्राहीम आदिलशाह ने अपना समस्त जीवन ध्रुपद की साधना में बिताया। उसने ध्रुपद गायन तानसेन के शिष्य बख्तखां से सीखा था। अपने प्रारंभिक जीवन में इब्राहीम इसी ध्रुपद साधना के प्रभाव में इस्लाम को त्याग हिन्दू बन जाने के मार्ग पर चल निकला था। कहा जाता है कि यह समाचार पाकर मदीना से मौलाना सिवगतुल्लाह हुसैनी बीजापुर आए और आदिलशाह को समझाया कि वह कुफ्र का मार्ग न अपनाए। इस पर सुल्तान ने मौलाना को समझाया कि वह सरस्वती की आराधना केवल अपना कण्ठ स्वर आकर्षक बनाने के लिए करता है, उसका इस्लाम के प्रति विश्वास अडिग है। इस पर मौलाना ने सुल्तान को आशीर्वाद दिया, और उसका स्वर और भी मधुर हो गया।[26]

अपनी स्वर साधना की सफलता के लिए इब्राहीम आदिल शाह मौलाना के आशीर्वाद पर ही निर्भर न रहा और उसने वाग्देवी सरस्वती की आराधना आगे बढ़ाई, वह सरस्वती और गणेश की वन्दना करता ही रहा और गाता ही रहा। पाशविकता स्निग्ध मानवता की ओर

बढ़ने लगी, महमूद के वंशजों ने मदीना के मुल्लाओं के उपदेश को ठुकराकर मृदंग की थाप और वीणा की स्वर संगति पर भरी सभा में ध्रुपद की हिन्दी के तुतले (बीजापुर के सुल्तानों की राजभाषा फारसी थी और जनभाषा मराठी) अनुकरण में वन्दना की–

विद्या पथ सूजत नहीं या या कारन सरसुती,
गनेस रवि ससि भये परकास
वाक विनायक जुगल तुम्बडबीन भयो रे,
दुख घरन को सुख करन भोग विलास
सारदा गनेस माता पिता तुम मानो निर्मल,
बीब फटिक सीसी तास
इबराहीम गुप्त घेसौ अपनवाज प्रगट,
कीनो धन्य मेरो रास।[28]

अर्थात विद्या का पथ सूझ नहीं रहा था। इस कारण सरस्वती और गणेश, रवि-शशि के समान उदित हुए। विनायक की वाणी और सरस्वती की वीणा ने सन्ताप को मिटा दिया और सुख तथा आनन्द-विलास का मार्ग अनवरुद्ध कर दिया। हे शारदा और गणेश आप मेरे माता-पिता के समान हो, मानो पारसमणि ही हो, जिनके स्पर्श से इबराहीम गुप्त से प्रकट, प्रकाशमान हो गया, मैं धन्य हो गया। आदिलशाह ने ध्रुपद के पदों की भाषा हिन्दी को भी बीजापुर में प्रस्थापित किया। वह ध्रुपद के नौरस में निमग्न हुआ, उसने नवरस के नाम से नवीन नगर बसाया, नवरस महल बनवाया और अपने हाथी का नाम भी नवरस रखा तथा 'किताबे-नौरस' की रचना की। नवरस महल में ईदे-नौरस मनाई जाने लगी।

यहां इतना कहना है कि जब इब्राहीम सरस्वती और गणेश को माता-पिता कहता है, तब वह यह प्रकट करता हो कि उसे ये देवमूर्तियाँ उन सूफी गायकों के माध्यम से प्राप्त हुई हैं, जिनके समर्थन के लिए मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने 'हकायके हिन्दी' लिखा था। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन् 1300-1527 ई. तक हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य की रचना हुई थी, जो धर्म सम्प्रदाय और प्रान्तों की सीमाओं को ध्वस्त कर अखिल भारतीय स्तर पर सम्मानित हुआ था। गोलकुण्डा के कुतुबशाही वंश के सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह के राज्य काल के दसवें वर्ष हिजरी सन् 1045 (ई. सन् 1636) में मुल्ला वजही ने सुल्तान की छत्रछाया में अपना 'सबरस' नामक आख्यान काव्य हिन्दी में लिखा था। इस पुस्तक की रचना वजही ने अब्दुल्ला कुतुबशाह के आग्रह पर की थी। मुल्ला सूफी था और इस्लाम पर उसे पूरी आस्था थी। 'सबरस' सूफी साधना के सिद्धांतों के अनुरूप गद्य में लिखा गया प्रेमाख्यान है।

सबरस का प्रारम्भ 'बिस्मिल्लाहिर्रहमानर्रहीम से करके वजही ने प्रेम के महत्व की प्रस्थापना प्रारम्भ की। उसके समर्थन में कुरआन, हदीस तथा फारसी के दानिशमन्दों का प्रमाण देने के पश्चात उसने लिखा– 'होर गवालियर के चातरों गुन के गुराँ उनो बी बात कूँ खोले है के– एकै अच्छर पेम का पढ़े सो पंडित होय।[29]

पुस्तक के मंगलाचरण में ही कुरआन शरीफ, हदीस और फारसी के दानिशमन्दों के समकक्ष मुल्ला ने 'गवालियर के चातराँ गुन के गुराँ' को बैठा दिया। सबरस की रचना तक ग्वालियर में ऐसी कौन सी रचनाएँ हो चुकीं थीं, ऐसे कौन से विचारक उत्पन्न हो चुके थे, जिनके कारण गोलकुण्डा के इस मुल्ला ने ग्वालियर के चतुरों की वाणी को कुरआन शरीफ, हदीस और फारसी के दानिशमन्दों की श्रेणी में बैठा दिया? इस प्रश्न का उत्तर यहां देना विषयागत न होगा क्योंकि विस्तार अधिक हो जाएगा। जिस समय हिन्दी गद्य का विकास पूरी तरह नहीं हुआ था, अपनी बात को प्रभावशाली ढंग से रखना उस समय कोई सरल काम नहीं था। इसी प्रकार आगे मुल्लाजी ने लिखा है 'सबूरी ते दुनिया, सबूरी ते दीन' के मुसहफ की आयत है– 'इन अल्लाह मा आसाबरीन' होर हदीस भी यू आई है समझ 'अस्सब्र मिफताह उल फरा' होर ग्वालियर के सुभान' यूँ बोलते हैं जान- धरती म्याने रीज धर बीज विखर कर बोय, माली सींचे सो घड़ा रित आये फल होय।[30]

आगे फिर बड़े दर्प से मुल्लाजी ने लिखा है, यू बात, इधर उधर की बात नहीं; जहाँ लगन ग्वालियर के हैं गुनी; उनो ते बी यू बात गई है सुनी– जिन कूँ दर्सन इत है तिन कूँ दरसन उत जिन कूँ इत दर्सन नहीं तिन कूँ इत न उत।[31]

सम्भव है मुल्ला वजही जब 'गवालियर के चातराँ, गुन के गुराँ का नाम लेता है, तब उसका आशय हिन्दी के तत्कालीन समस्त कवियों से हों, क्योंकि सबरस लिखते समय गोलकुण्डा में अमीर खुसरो, कबीरदास तथा अन्य सन्त कवियों की रचनाएँ पहुँच चुकी थीं। गोलकुण्डा के विद्वान इस साहित्य से परिचित भी थे। वे इस साहित्य में रस भी लेते थे। हो सकता है दक्षिण पहुँचने तक इन पदों की भाषा में कुछ उलट फेर हुआ हो। हिन्दी के दोहे इस पुस्तक में दिए गए हैं, उनसे हम लोग अच्छी तरह परिचित हैं। इन दोहों को वजही ने 'दोहरा' नाम दिया है। दक्षिण के अन्य लेखकों ने भी दोहे का उल्लेख 'दोहरा' नाम से किया है।

हिन्दी साहित्य के सम्मोहन ने इन तुर्कों और मुल्लाओं के हृदयों को इस सीमा तक परिवर्तित कर दिया कि वे हिन्दू देवी देवताओं को अपने माता-पिता घोषित करने लगे और हिन्दी के कवियों के 'दोहरे' कुरआन शरीफ और हदीस के समान प्रमाण मानने लगे। लोक भाषा हिन्दी कटुता पर विजयी हुई, उसने अपने सब बेटों में सौहार्द उत्पन्न कर दिया, उसका जन्म सार्थक हुआ, वह जयी हुई। हिन्दी के इस जयी रूप के निर्माण में ग्वालियर के शासक डूंगरेन्द्रसिंह (1425-59 ई.) और कश्मीर के सुल्तान जैनुल आबेदीन (1420-70 ई.) की मैत्री ने भी योगदान किया था। कीर्तिसिंह तोमर (1459-80) और हुसैनशाह शर्की (1458-1505 ई.) की मैत्री ने हाथ बटाया था। कल्याणमल तोमर (1480-88 ई.) और लादखां (अवध का अमीर) के सौहार्द ने भी अंशदान किया था।

हिन्दू या मुसलमान राज्यों के उत्थान पतन के साथ हिन्दी साहित्य के इतिहास को जोड़ना, अथवा इस्लाम और हिन्दू धर्म की गति, सुगति या दुर्गति के साथ हिन्दी साहित्य को समेट देना उसके अतीत को भ्रष्ट करना है। मन्दिरों, मठों, खानकाहों या दरगाहों में साहित्य नहीं पनपता, साहित्य का क्षेत्र अलग है, सम्प्रदाओं का अलग। इतिहास उस व्यक्ति को महान मानता है, जो युग निर्माता हो, युग द्रष्टा हो, जो मानव को दानवता की ओर से विमुख कर देवत्व की ओर अग्रसर कर सके, जो कुछ ऐसी परम्पराएँ डाल सके जिससे आगे की पीढ़ियां उचित दिशा में मार्ग दर्शन ले सकें तथा जिससे कल्याणकारी सांस्कृतिक परम्पराएँ निर्मित हो सकें।

संदर्भ :

1. शर्फुद्दीन अली यजदी, जफरनामा का अंग्रेजी अनु. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाय इट्स ऑन हिस्टोरियंस, एच.एम.इलियट व जॉन डासन, लन्दन 1871, भाग 3, पृ. 488-89; ई. सन 1424-25 में लिखी गई इस पुस्तक में तैमूर के अभियानों का विस्तृत इतिहास है। **2.** जफरनामा, इलियट व डासन, भाग 3. पृ. 494-95. **3.** देखें मोलाना दाउद दलमई कृत, चन्दायन, सम्पा. परमेश्वरी लाल गुप्त, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा. लि. दिल्ली, 1964. **4.** बहारिस्ताने शाही, लेखक अज्ञात, इण्डिया आफिस लायब्रेरी, लन्दन की पाण्डुलिपि, एथे 509 (आई.ओ. 943); PDF Created with Fine Print pdf Factory Protrial Version www.pdffactory. com Baharistan-i-shahi. अंग्रेजी अनुवाद के.एन. पण्डित, पृ. 63, टि. 22; मोहम्मद हबीब खलिक अहमद निजामी, ए कम्प्रेहेंसिव हिस्ट्री आफ इण्डिया (द दिल्ली सुल्तनत), पीपुल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1970, भाग 5, पृ. 757; जोनराज कृत, राजतरंगिणी, हिन्दी अनुवाद डा. रघुनाथसिंह, चोखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, 1972, श्लोक 782, पृ. 451; मो. कासिम फरिश्ता, तारीखे फरिश्ता हिस्ट्री ऑफ द राइज ऑफ द मोहमेडन पावर इन इण्डिया, अंग्रेजी अनु. जॉन ब्रिग्स, लांगमेन एण्ड ग्रीन लंदन, 1829, भाग 4, पृ. 469; ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद, तबकाते अकबरी, अंग्रेजी अनु. ब्रजेन्द्रनाथ डे, एवं बेनीप्रसाद, रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1939, भाग 3, पृ. 654, 659; श्रीवर जैन राजतरंगिणी, हिन्दी अनु. डा. रघुनाथसिंह, चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी 1970, खण्ड 1. पंचमसर्ग श्लोक 83, 85 पृ. 162-64; सर बोल्जले हेग, द केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (तुर्क्स एण्ड अफगान्स), केम्ब्रिज एट द युनिवर्सिटी प्रेस 1928, भाग 3, पृ. 282। **5.** श्रीवर, राजतरंगिणी, खण्ड 1, षष्ठ सर्ग, श्लोक 15-16, पृ. 178-79; तबकाते अकबरी, भाग 3, पृ. 659-60;

हरिहर निवास द्विवेदी, ग्वालियर के तोमर, विद्या मन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर 1976, पृ. 84-86। **6.** गौरीशंकर हीराचंद ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर 1997, भाग 1. पृ. 280; ग्वालियर के तोमर, पृ. 95। **7.** उत्तर तैमूर कालीन भारत, सैयिद अतहर अब्बास रिजवी, हिस्ट्री डिपार्टमेन्ट, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़ 1959, भाग 2, पृ. 76,519। **8.** ग्वालियर के तोमर, पृ. 290। **9.** ए कम्प्रेहेंसिव हिस्ट्री आफ इण्डिया (द दिल्ली सल्तनत), भाग 5. पृ. 638. **10.** चतुर्भुजदास, मधुमालती कथा, हस्तलिखित प्रति, लिपिकाल वि.सं. 1841 (ई. सन 1784) लेखक के संग्रह में संग्रहीत, पृ. 64 ब। **11.** के. एस.लाल, हिस्ट्री ऑफ खलजीज, द इण्डियन प्रेस इलाहाबाद, 1950, पृ. 285। **12.** इस पंक्ति का शुद्ध रूप इस प्रकार भी बताते हैं– ढोल गंवार क्षुब्ध पशु रारि। यहां तो हम केवल विषयागत उद्देश्य के दृष्टिकोण से इन दोनों शूद्र और नारी के नवोन्मेष के रूप को देखते हैं। **13.** उत्तर तैमूर कालीन भारत, सैयिद अतहर अब्बास रिजवी, हिस्ट्री डिपार्टमेन्ट, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़ 1958, भाग 1, पृ. 217-18। **14.** अब्दुल बाहिद बिलग्रामी, हकायके हिन्दी, सैयिद अतहर अब्बास, रिजवी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 37. **15.** हकायके हिन्दी, पृ. 73। **16.** हकायके हिन्दी, पृ. 74। **17.** हकायके हिन्दी, पृ. 79। **18.** ग्वालियर के तोमर, पृ. 117। **19.** नारायणदास, छिताई चरित, सम्पा. हरिहरनिवास द्विवेदी, विद्या मन्दिर प्रकाशन, मुरार ग्वालियर 1960। **20.** मानसिंह और मानकुतूहल, सम्पा. हरिहरनिवास द्विवेदी, विद्या मन्दिर प्रकाशन, मुरार ग्वालियर, 1954, पृ. 45,58। **21.** अल बदायूनी, मुन्तखबुत तवारीख, अंग्रेजी अनु. डब्ल्यू.एच.लो.. एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता 1924, भाग 2, पृ. 77ः ग्वालियर के तोमर, पृ. 308। **22.** एल.एम.क्रम्प, द लेडी ऑफ द लोटस रूपमती क्वीन ऑफ माण्डू, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लन्दन 1926, पृ. 7, 79। **23.** ए कम्प्रेहेंसिब हिस्ट्री आफ इण्डिया (द दिल्ली सल्तनत), भाग 5, पृ. 441। **24.** ए कम्प्रेहेंसिब हिस्ट्री आफ इण्डिया (द दिल्ली सल्तनत), भाग 5. पृ. 498। **25.** मुगल कालीन भारत हुमायूं, सयिद अतहर अब्बास रिजवी, हिस्ट्री डिपार्टमेण्ट, अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी, अलीगढ़, 1962, भाग 2, पृ. 439; ग्वालियर के तोमर, पृ. 198। **26.** इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय, किताबै नौरस, सम्पा. नजीर अहमद, भारतीय कला केन्द्र पूसा रोड़. दिल्ली 1956, पृ. 95। **27.** किताबै नौरस, पृ. 46-47। **28.** किताबै नौरस, पृ. 116। **29.** मुल्ला वजही, सबरस, सम्पा. श्रीराम शर्मा, दक्खिनी प्रकाशन समिति हैदराबाद, 1955, पाठ भाग पृ. 1। **30.** सबरस, पृ. 131। **31.** सबरस, पृ. 170।

– शोध अधिकारी,
श्री नटनागर शोध संस्थान, सीतामउ
मंदसौर (म.प्र.)।
मो. 9425977362

❐❐

■ ***कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अंतर्जगत् से संबंध कौन कराती है? कविता ही न?***

-जयशंकर प्रसाद

मोहन राकेश के उपन्यास एवं कथा शिल्प

डॉ. आशा बिष्ट

प्रत्येक युग की साहित्यिक अभिव्यक्ति का विशिष्ट रूप होता है। अर्थात प्रत्येक युग में किसी न किसी साहित्य विधा की प्रधानता होती है। उपन्यास में एक कथा मुख्य होती है। और उसके स्वाभाविक विकास के लिए कई गौण कथाएँ भी लायी जाती हैं। कथा इस प्रकार की होनी चाहिए जिसका कलेवर गहन एवं विस्तृत हो और जिसके द्वारा मानव जीवन की जटिलताओं और संघर्षो का सफल चित्रण किया जा सके।[1] मोहन राकेश हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न नाटककार और उपन्यास कार हैं। मोहन राकेश के उपन्यास भी उनके कथाकार की भाँति ही सजग और यथार्थवादी रहे है। उनके तीन उपन्यास शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं–

1- अंधेरे बन्द कमरे सन् 1961 ई.

2- न आने वाला कल सन् 1968 ई.

3- अन्तराल सन् 1972 ई.[2]

मोहन राकेश के उपन्यासों में शिल्प विधान, संवेदना व गहन अध्ययन देखने को मिलता है। मोहन ने नूतन शिल्प प्रयोगों के माध्यम से उपन्यासों को प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है। उनके उपन्यासो की संख्या कम होते हुए भी उन्होंने हिन्दी साहित्य में उपन्यासकार के रूप में एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। यह उनकी औपन्यासिक सर्जना की मौलिकता का द्योतक है।[3] मोहन राकेश के उपन्यासों के कथा शिल्प का कई दृष्टि से विश्लेषण किया जा सकता है। जैसे वर्णनात्मक कथा शिल्प, विश्लेषणात्मक कथा शिल्प, प्रतीकात्मक कथा शिल्प, नाटकीय कथा शिल्प, आत्मकथात्मक कथा शिल्प, डायरी कथा शिल्प आदि विभिन्न प्रकार की शिल्प विधियों का वर्णन उनके उपन्यासों के कथा शिल्प सृष्टि करते हैं। मोहन राकेश का उपन्यास 'अधेरे बन्द कमरे' मुख्य रूप से आत्मकथात्मक शिल्प कथा का उपन्यास है। यह व्यक्तिवादी उपन्यास है। इसमें राजनैतिक और पारिवारिक जीवन के खोखलेपन का चित्रण व स्त्री पुरुष के निर्बन्ध सम्बन्धों की बिडम्बना को चित्रित किया है। इसके पात्र– मधुसूदन, हरबंस शुक्ला और निलिमा हैं। इसके अधिक प्रसंग मधुसूदन द्वारा विश्लेषित हुए हैं। इसमें सामयिक जीवन की कथा है। कथा का अन्तराल दस वर्षो तक फैला है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही कलाकार एक ऐसा परिदृश्य प्रस्तुत करता है जिसमें महानगरीय जिन्दगी की नैतिकता सांस्कृतिक और कला जगत के अधिकांश प्रतिमान स्पष्ट हो जाते है।'[4]

'अधेरे बंद कमरे' उपन्यास में प्रमुख कथा हरबंस और नीलिमा की है। जो एक सीमित परिवार है। राकेश का ध्यान इस दम्पति के जीवन में घटित होने वाले अनेक प्रंसगों पर केन्द्रित

है। प्रत्यक्ष रूप से हरबंस और नीलिमा का अंतर्द्वन्द्व और चरित्रांकन। इस उपन्यास में द्वन्द्व का प्रारम्भ तो है किन्तु उसका विकास नहीं। इसमें व्यक्ति ऊबने लगता है। भीतर ही भीतर क्रोध ईर्ष्या और संदेह उसे जकड़ लेती है। राकेश ने दंपति के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने में प्रंसगों को मौलिकता और विस्तार दिया होता तो कथा का शिल्प और सघन होता। कथा का प्रारम्भ जिस परिवेश में और जिस पद्धति पर हुआ है वह प्रारम्भ में जैसा है, वैसा अंत तक नहीं रहा है। 'अधेरे बंद कमरे' को खोलने वाला यह उपन्यास कथा शिल्प में संबद्धता नहीं रहने के वाबजूद कहीं-कहीं पर वह आकर्षक और दिलचस्प भी है।[5]

'न आने वाला कल' उपन्यास को सात अध्यायों में बांटा गया है। इस उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर ही शीर्षक के नीचे लेखक ने एक और उपशीर्षक दिया है- - एक कथा प्रयोग एक निर्णय की अनेक प्रतिक्रिया, यह उपशीर्षक वास्तव में बड़े सार्थक रूप से एक घटना के चारों ओर बनी हुई अनेक प्रतिक्रियाओं को स्पष्ट करता है। मोहन राकेश का यह 'न आने वाला कल' उपन्यास कथा प्रयोग अस्तित्वादी विचार धारा से प्रभावित है। यह आर्थिक संघर्ष, स्त्री पुरुष सम्बन्ध तथा साहित्य और कला की दुनिया को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित करता है। इसमें पात्र है- हिलवर, शोभा, काशनी, नरूला, बानी, मनोज आदि हैं। इस उपन्यास में आधुनिक जीवन की विसंगतियों संत्रास, मानव सम्बन्धों, भय, अकेलेपन आदि को अस्तित्वादी विचार धारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उपन्यास में तर्क-वितर्क का बहुत जंजाल है। यह उपन्यास व्यक्ति के सम्बन्धों, दाम्पत्य जीवन की कटुता और विसंगतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है।[6]

सात वर्ष बाद मोहन राकेश जब बंद कमरे की कैद से बाहर आये तो उन्हें एक नयी तलाश का प्रश्न आन्दोलित करने लगा और वह था 'न आने वाला कल' का प्रश्न। यह उनका दूसरा उपन्यास था। उपन्यास की मूल कथा में मनोज सक्सेना जो की फादर बर्टन स्कूल में जूनियर हिन्दीं शिक्षक हैं। कुछ वैयक्तिक कारणों से अपनी नौकरी से त्यागपत्र देना चाहता है– दे देता है और उसके हस निर्णायक कृत्य पर होने वाले उसके साथी सहयोगियों की विभिन्न प्रतिक्रियाएं तथा उन पर मनोज की वैचारिक प्रतिक्रियाएं अंकित की गई हैं। पहली कथा में 'त्याग पत्र' दूसरी में 'डर' तीसरी में 'कुर्सी' जो हेडमास्टर का प्रतीक है। चौथे में 'सहयोगी' पांचवें में कथा खंड 'नाटक' में स्कूल में प्रतिवर्ष होने वाले संत्रांत के नाटक का वर्णन है। छठे में 'सड़क' है। अन्तिम कथा में 'दरवाजे' जो मनोज के बाहर जाने का माध्यम है, मानो अभी नहीं खुला। यह प्रमुख कथा मनोज और शोभा की है। 'न आने वाला कल' उपन्यास एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जो एक ओर स्कूली परिवेश से संत्रस्त है। उसकी घुटन भरी जिन्दगी अकेलेपन का बोझ ढोते हुए एक ऐसे बिन्दु पर आकर रुक जाती है। जहाँ से न निकलने का उसे सही रास्ता मिलता है और न कोई निश्चित आधार पर, परिणामतः वह नौकरी से त्याग पत्र दे देता है। उसके समक्ष सबसे बड़ी समस्या है, अस्तित्व रक्षण की। मोहन राकेश का 'न आने वाला कल' उपन्यास की प्रांसंगिक कथाओं को मुख्य कथा के साथ जोड़कर इसके कथा शिल्प को सुन्दर एंव आर्कषण बना दिया है।[7]

उपन्यास का कथा शिल्प अपने में एक अलग उपलब्धि है। हेडमास्टर हिलवर से चपरासी की रेली बीवी काशनी तक जो इस पहाड़ी स्कूल में एक ही जिन्दगी में सहभागी होकर जी रहे थे, परन्तु साथ-साथ जीते हुऐ भी वे सब इतने अकेलेपन को महसूस तक नहीं कर पाते थे, वे अपनी-अपनी चार दिवारों में बन्द वे अपनी-अपनी जगह एक ही चीज को खोज रहे थे अपने न आने वाला कल जो तनाव की स्थिति में जीवित मनुष्य के साथ जुड़ी रहने वाली नियति है जिसे मोहन राकेश अपने इस उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं। यह उपन्यास एक कथा शिल्प का प्रयोग माना गया है।[8]

'अन्तराल' उपन्यास में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक घरातल पर ऐसा जायजा है जो आंतरिक में डूबने के बाद उभरने की चेष्टा ही अनेक प्रश्न खड़े कर देता है। इस उपन्यास में स्त्री-पुरुषों के विवाह

सम्बधों के बनने बिगड़ने के पीछे कई सामाजिक व आर्थिक कारणों को लेकर मोहन राकेश ने इस उपन्यास की रचना की है। इसमें पात्र श्यामा कुमार आदि हैं। श्यामा द्वन्दों के बीच रहती हुई नारी है। मोहन राकेश ने इस 'सूक्ष्म संवेदना एवं संवेगों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए हुए विश्लेषणात्मक शिल्प कथा में लिखा हुआ यह उपन्यास है। इसमें जहाँ वर्तमान की कथा का वर्णन है। वहां विश्लेषण की पद्धति अपनायी गयी है। 'अन्तराल' एक स्त्री और पुरुष के बीच के ऐसे ही अनाम सम्बन्धों की कथा है। मोहन राकेश ने 'अन्तराल' कथा को अन्तराल एक, अन्तराल दो, अन्तराल तीन में बांटी है। यहाँ पर श्यामा और कुमार इन दो चरित्र के माध्यम से अनेक क्षेत्रों में आबद्ध और घुटन महसूस करते हुए स्त्री-पुरुष की मनःस्थिति की कथा है। श्यामा का विवाह साढे तीन साल पूर्व हुआ था और उस बीच वह केवल डेढ़ वर्ष अपने पति देव के पास रही। विधवा होने पर वह एक अजीब सी स्थिति अनुभव कर रही थी। यह सोचती है देव के लिए उसके मन में भावना नहीं है। श्यामा छलनाओं व द्वन्दों के बीच तैरती हुई एक नारी है। उसकी भेंट कुमार से होती है और वह कुमार के आकर्षण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। उपन्यास का अन्त दोनों के अलगाव में है। लेकिन दूर रहकर भी श्यामा के लिए कुमार प्रतीक बना रहता है। वस्तुतः श्यामा की एक कहानी उसकी शारीरिक आकांक्षाओं की है और दूसरी उसके आन्तरिक उद्वेगों की। 'अन्तराल' के कथानक की जटिलता कई प्रकारों की है।[9]

इस उपन्यास में जटिलता है और इससे अधिक अपेक्षाएं नहीं की जा सकती। दोनों बातें भी सत्यांश कही जा सकती हैं। फिर भी मोहन राकेश के सम्पूर्ण उपन्यास जगत पर पूर्णतः लागू नहीं हो सकती। क्योंकि मोहन राकेश ने जिस समूह मन को विभिन्न स्तरों पर अपने विभिन्न उपन्यासों को प्रस्तुत किया है वह महत्व का हो जाता है। घटनाएं चरित्र जहाँ प्रमुख नहीं होती बल्कि वे स्थितियां इन उपन्यासों में प्रमुख हो जाती हैं। जिसमें जूझता मानव अतीत से लेकर वर्तमान तक विद्यमान है। यह इन उपन्यासों की उपलब्धि है। 'अन्तराल' कथा का शिल्प सुन्दर सुगठित और आकर्षक है। यह शिल्प कथा को बाँधने में सक्षम है।[10] बदलती परिस्थितियों और परिवेश के अनुकूल कथ्य बदलता है। और उसके साथ शिल्प भी बदल जाता है। वस्तुतः कथा और शिल्प में अभिन्न सम्बन्ध है। कथा की अभिव्यक्ति के अनुकूल शिल्प की अपने आप तलाश हो जाती है। शिल्प रचना पर आरोपित न होकर कथा की प्रेरणा से आकार ग्रहण करता है। कथा की विभिन्नता ही शिल्पगत विविधता में प्रकट होती है। मोहन राकेश की कथाएं मध्यवर्गीय जीवन के इर्द-गिर्द केन्द्रित हैं। राकेश के कथा शिल्प के बारे में डॉ. गोरधन सिंह लिखते हैं– 'नयी कहानी में शिल्प के स्तर पर सबसे बड़ा परिवर्तन कथानक का ह्रास था। मोहन राकेश की प्रारम्भिक कहानियों में शिल्पगत कमजोरियां भी दिखाई देती हैं।'[11]

उपन्यास साहित्य का विस्तार व्यापक है। मानव जीवन और उसकी जटिलताओं से सीधे प्रेरणा लेने के कारण समाज में व्याप्त विविधताओं के कारण उपन्यास का विषय विन्यास और रूप विधान विस्तार पाता है। मोहन राकेश ने अपने उपन्यासों में मानवीय अनुभूतियों का विश्लेषण दिखलाते हुए मावन के विविध आयामों को स्थापित किया है। अगर देखा जाय तो आधुनिक उपन्यासों का शिल्प तत्वों के आधार पर निर्धारित होने की अपेक्षा मावन जीवन की जटिलताओं, उसके विभिन्न रूपों के साथ अभिव्यक्त होता है। उपन्यासों में विविध प्रवृत्तियों की खोज होती है। तत्वों के आधार पर भी भिन्न प्रयोग होने लगे हैं। विकास की परम्परा में वह अपना मार्ग खोज ही लेते हैं। युग बदलता है, क्षेत्र बदलते है, केन्द्र बदलते हैं, परिधियां भी घटती बढ़ती रहती हैं। इसलिए न तो मनुष्य का और न उसकी परिस्थितियों का विकास रुकता है। मोहन राकेश के समकालीन उपन्यासों में शिल्प के विशेष प्रयोग के फलस्वरूप बहुत अधिक मोड़ आये हैं। शैली शिल्प के क्षेत्र में बहुत परिवर्तन हुए हैं। जैसे वर्णनात्मक शैली के स्थान पर आत्मकथात्मक शैली, डायरी शैली का विशेष प्रयोग

किया जाने लगा है। मोहन राकेश की व्यक्तिवादी तथा आधुनिकता बोध की दृष्टि ने इन सब ने अपनी सीमा में कथ्य के साथ-साथ शिल्प में भी क्रांतिकारी परिवर्तन पैदा कर दिये। मोहन राकेश के समकालीन प्रयोगशील उपन्यासकारों ने प्रतीक आदि के द्वारा अपने उपन्यासों में नये शिल्प के दर्शन कराये हैं। शिल्प के माध्यम से उपन्यासकार अपनी बात कह पाता है।[12]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मोहन राकेश के उपन्यासों में आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अपने समसामयिक परिवेश और भाषा को ही अपना आधार बनाया, इसके माध्यम से उन्होंनें भारतीय मध्यवर्गीय परिवार के टूटते बिखरते सम्बन्धों को अपने उपन्यासों में अपने ढंग से यथार्थपरक दृष्टि, मनोविश्लेषणात्मक शिल्प कथा एवं मनोवैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत किया है। इसलिए मोहन राकेश एक नये कथा शिल्प व भाषा के अन्वेषक हैं। मोहन राकेश के उपन्यासों का मूल्यांकन करते समय यह हमें मानना होगा कि मोहन राकेश के उपन्यासों में दृष्टिगत सजगता के साथ-साथ अनुभव की सघनता है।

सन्दर्भ :

1. सफी उल्लाह अंसारी– मोहन राकेश का उपन्यास शिल्प पृ.सं. 57, **2.** डॉ. कृष्ण देव शर्मा लहरों के राजहंस एक विवेचन पृ.सं. 8, **3.** विजय कुमार डी. मालाणी मोहन राकेश के गद्य साहित्य का तात्विक अनुशीलन पृ.सं. 155, **4.** सफी उल्लाह अंसारी मोहन राकेश का उपन्यास शिल्प पृ.सं. 66-67, **5.** वही वही पृ.सं. 68, **6.** वही वही पृ.सं. 70, **7.** डॉ. लक्ष्मण मोहन राकेश के उपन्यास में चरित्र दृष्टि पृ.सं. 150-155, **8.** डॉ. कविता शनवोर मोहन राकेश और उनका साहित्य पृ.सं. 26, **9.** सफी उल्लाह आंसारी मोहन राकेश का उपन्यास शिल्प पृ.सं. 72-73, **10.** डॉ. कविता शनवोर मोहन राकेश और उनका साहित्य पृ.सं. 30, **11.** सफी उल्लाह अंसारी मोहन राकेश का उपन्यास शिल्प पृ.सं. 64, **12.** डॉ. त्रिभुवन सिंह हिन्दी शिल्प और प्रयोग उपन्यास पृ.सं. 240।

c/o ***श्री विकम सिंह नेगी निकट मधुर नर्सिंग होम***
बुद्याणी रोड, आंम्रकुंज,
श्रीनगर गढ़वाल जिला पौड़ी गढ़वाल
पिन न. 246174 (उत्तराखण्ड)
मो. 9897448213, 9997423271
ईमेल- ashabisht976@gmail.com

❏❏

▪ सबको हाथ की पांच उंगलियों की तरह रहना चाहिए। हाथ की पांचों उंगलियां समान थोड़े ही हैं। कोई छोटी है, कोई बड़ी, लेकिन हाथ से किसी चीज को उठाना होता है, तब पांचों इकट्ठा होकर उठाती हैं। हैं तो पांच लेकिन काम हजारों का कर लेती हैं, क्योंकि उनमें एका है।

-विनोबा भावे

हिन्दी फिल्मों के गीतों में गूंजता देशभक्ति का स्वर

रेमीसा सी यू

शोध सारांश– हिंदी फिल्मी गीत भारतीय फिल्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। मानव जीवन फिल्मी गीतों से बहुत अधिक प्रभावित है। मानव के भावनात्मक, मानसिक और शारीरिक स्थितियों से भी गीत का प्रभाव स्पष्ट है। मानव मन की विभिन्न भावनाएं सुख, दुख, शांति और उत्तेजना जैसी भावनाओं को प्रतिफलित करने की शक्ति गीतों में निहित है। वर्तमान समय में फिल्मी गीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं है। भारत के प्रति राष्ट्रीय चेतना को उजागर करने में गीतों की अतुलनीय भूमिका रही है। स्वतंत्रता संग्राम में और विभिन्न लड़ाइयों में भारतीयों के अंतःकरण में स्फूर्ति और चेतना को जागृत करने में गीतों का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव निस्संदेह है। देश की राष्ट्रीय चेतना एवं देशभक्ति की भावना को जगाने और लोगों को एकजुट रखने में हिंदी फिल्मी गीतों की अहम भूमिका है।

फिल्मी गीत भारतीय फिल्म का एक अभिन्न अंग है जो भारतीय समाज के विभिन्न मूल्यों, मान्यताओं और आकांक्षाओं के साथ गहराई से जुड़े हुए हैं। मानव जीवन से गीतों का संबंध इतना दृढ़ है कि गीत, मनुष्य के जीवन के कई स्तरों पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। कभी वह मानव के मानसिक तनाव और अवसाद को कम करने में मदद करता है तो कभी सृजनात्मकता के स्तर पर नए विचारों और अवधारणाओं के विकास में प्रेरक बनता है। सामाजिक स्तर पर भी गीतों का उतना ही महत्व है जहां वह मानव को एक दूसरे के साथ जोड़ रखने और मानव-मानव के बीच सामुदायिक भावना को जागृत करने का साधन बन जाते हैं। विभिन्न विद्वानों के अध्ययन द्वारा यह भी प्रमाणिक हो चुका है कि गीत-संगीत से मनुष्य के कई तरह के मानसिक व शारीरिक इलाज के लिए भी कामयाब सिद्ध हुआ है। फ्रांसीसी दार्शनिक गिल्स डेल्यूज ने तो यहां तक कह दिया कि 'सिनेमा में इतनी ताकत है कि वह दर्शनशास्त्र भी बदल सकता है। इसका कारण उसकी बौद्धिकता नहीं, बल्कि उसकी भावनात्मक क्षमता है। क्योंकि पर्दे पर दिखलाई जाने वाली आकृतियों को किसी सुनिश्चित दृष्टिकोण से जानने/समझने की प्रवृत्ति से प्रायः मुक्त करा चुका होता है।' इसी कारण से फिल्म उद्योग भी भारत में साहित्य के समान प्रगति प्राप्त है। साहित्य के समान फिल्म भी देश के राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आधुनिक काल में हिंदी साहित्य में काव्य, नाटक आदि में भारत के राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्त करने वाले कई गीतों की रचना हुई। नाटकादि के बीच में प्राप्त कुछ पंक्तियों के अलावा हिंदी के वरिष्ठ कविगण द्वारा स्वतंत्र रूप से ऐसे अनेक गीत लिखे गए जो भारतवासियों के जहन में राष्ट्रीयता की भावना को तेज

किया और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ऊर्जा प्रदान की है। श्रीधर पाठक का 'भारत देश', रविंद्रनाथ टैगोर का 'राष्ट्रीय गीत', मैथिलीशरण गुप्त का 'मातृभूमि', जयशंकर प्रसाद का 'भारत महिमा', माखनलाल चतुर्वेदी का 'तुम एक हो', रामनरेश त्रिपाठी का 'स्वदेश गीत', सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का 'भारत माता', बालकृष्ण शर्मा नवीन का 'हिंदुस्तान हमारा है', सुमित्रानंदन पंत का 'भारत गीत', सुभद्राकुमारी चौहान का 'वीरों का कैसा हो वसंत', रामधारी सिंह दिनकर का 'मेरे प्यारे देश', गिरिजा कुमार माथुर का 'हम होंगे कामयाब, बालकवि वैरागी का 'जवानों से' आदि हिंदी में लिखे गए कुछ श्रेष्ठ राष्ट्रीय गीता का उदाहरण है।

भारत में फिल्म उद्योग स्वतंत्रता आंदोलन के सुनहरे दिनों में विकसित हुआ। पिछले 70 वर्षों में कई यादगार हिंदी फिल्मों ने लोगों में देशभक्ति, वीरता और राष्ट्र के लिए आत्म-बलिदान की भावना को जागृत किया है। इन फिल्मों का एक सामान्य विषय भारतीय होने का गौरव और राष्ट्र के प्रति कर्तव्य रहा है। इनमें जिन गीतों की रचना हुई, उनमें देशभक्ति की भावना को जगाने की प्रबल संभावनाएँ थीं। 1943 में कवि प्रदीप द्वारा 'किस्मत' फिल्म के लिए लिखा गया गीत- 'दूर हटो ऐ दुनियावालों, हिंदुस्तान हमारा है' इस दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण है। इस गीत में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक शक्तिशाली संदेश था, और इसे उस समय के 'भारत छोड़ो आंदोलन' से भी जोड़ा गया था। ब्रिटिश सरकार ने इस गीत को देशद्रोही माना और कवि प्रदीप की गिरफ्तारी का वारंट भी जारी किया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रवाद और देशप्रेम की भावना से ओतप्रोत अनेक हिंदी फिल्मों का निर्माण हुआ, जिनमें सामाजिक परिवर्तन और सुधार को प्रोत्साहित करने वाले कई गीतों की भी रचना की गई। 1952 में बंकिम चंद्र चटर्जी के प्रसिद्ध उपन्यास पर आधारित 'आनंद मठ' फिल्म आई। इसका निर्देशन पूर्व स्वतंत्रता सेनानी हेमेन गुप्ता ने किया था। इस फिल्म का सबसे प्रसिद्ध गीत है 'वन्दे मातरम्। यह गीत न केवल फिल्म का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, बल्कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह गीत आज भारत का राष्ट्रगीत भी है। 1964 में रिलीज हुई फिल्म 'हकीकत' 1962 के भारत-चीन युद्ध के दौरान भारतीय सैनिकों की बहादुरी और बलिदान को जीवंत रूप से चित्रित करती है। इस फिल्म का देशभक्ति से ओतप्रोत गीत 'कर चले हम फिदा' फिल्म के अंत में आता है, जब भारतीय सैनिक युद्ध में शहीद हो जाते हैं। यह गीत वीरगति को प्राप्त सैनिकों की भावना को व्यक्त करता है, जो देश के लिए अपने प्राण न्योछावर कर देते हैं।

'देश' और 'राष्ट्र' इन दोनों शब्दों के अर्थ और अनुभूति में फर्क है। सुनील जोगी के अनुसार– 'देश एक स्थूल भौगोलिक स्थिति का अर्थ देता है। देश को हम 'छू' सकते हैं। स्पर्श कर सकते है। वह विशालता का सूचक है। राष्ट्र एक सूक्ष्म-चेतना का अर्थ देने वाला शब्द है। राष्ट्र हमें आस्मिता का आभास देता है। यह विराटता का सूचक है।'[2] यह मानव की सहज स्वाभाविक वृत्ति है कि उन्हें अपने देश या राष्ट्र के प्रति विशेष प्रकार का लगाव हो। हर एक मनुष्य जो चाहे विश्व के किसी भी देश या राष्ट्र के निवासी हो, वह अपने देश या राष्ट्र को सदा उन्नत और समृद्ध देखने के लिए इच्छुक रहता है। क्योंकि राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जिसका सीधा संबंध मानव के अंतःकरण से जुड़ी हुई है। उनके मन में अपने देश या राष्ट्र के प्रति कल्याण की भावना सदा सजीव रहती है। वह एक ऐसी जटिल अनुभूति है जिसके आवेग से मानव अपने देश या राष्ट्र के हित में अपना सबकुछ न्यौछावर करने में आनंद और गौरव अनुभव करता है।

1970 में रिलीज हुई फिल्म 'पूरब और पश्चिम' भारतीय संस्कृति, देशभक्ति और पश्चिमी प्रभावों के बीच संघर्ष पर आधारित है। इस फिल्म में भारतीय संस्कृति, परंपराओं और मूल्यों का जश्न मनाने वाला गीत है– 'भारत का रहने वाला हूँ'। यह गीत भारत की विविधता और एकता को दर्शाता है, और यह संदेश देता है कि भले ही हम अलग-अलग क्षेत्रों, भाषाओं और संस्कृतियों से हों, हम सब भारतीय हैं। हमें अपनी

मातृभूमि पर गर्व होना चाहिए। 'बॉर्डर' 1997 में रिलीज हुई फिल्म है। इस फिल्म में सैनिकों की भावनाओं और घर से दूर रहने के दर्द को दर्शाने वाला गीत 'संदेशे आते हैं' पूरे भारत में लोकप्रिय हुआ। जावेद अख्तर द्वारा लिखा गया यह गीत न केवल देशभक्ति की भावना को जगाता है, बल्कि सैनिकों के बलिदान और समर्पण को भी उजागर करता है।

'राजी' 2018 में रिलीज हुई एक फिल्म है जो हरिंदर सिक्का के उपन्यास 'कॉलिंग सहमत' के आधार पर बनाई गई है। इस फिल्म की कहानी 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान की है। इसके लिए गुलजार द्वारा लिखा गीत है 'ऐ वतन'। देशभक्तिपूर्ण यह फिल्मी गीत फिल्म जगत में हलचल मचा दी। इस गीत के लेखन के लिए कई आलोचकों से गुलज़ार को प्रशंसा प्राप्त हुई। विपिन नायर ने 'दी हिन्दू' में इस गीत की प्रशंसा करते हुए लिखा 'लंबे समय में बॉलीवुड से निकला पहला देशभक्ति गीत।[3] इस गीत की देशभक्ति भावना इतनी ऊंची है कि जहां व्यक्ति किसी भी वस्तु से पहले अपनी मातृभूमि को रखता है, यहां तक कि अपनी जान से भी आगे। इस गीत के जरिए गीतकार ने अपने वतन के लिए मंगलकामना की है कि अपना वतन हमेशा समृद्ध, संपन्न और खुशहाल बना रहे। चाहे कोई विश्व के किसी भी कोने में रहे, उसके मन में हमेशा देश की यादें ताजा रहे और कभी न भूल जाए–

ए वतन, वतन मेरे आबाद रह तू
मैं जहां रहूं जहां में, याद रहे तू ऐ वतन,
मेरे वतन...।'[4]

गीतकार के मन में अपने देश के लिए इतना लगाव है कि वे अपने देश के ऊपर कोई आपत्ति न आने के लिए सदा सतर्क हैं। देश पर किसी भी प्रकार की परेशानी का अहसास उनके लिए दुखदायक है और देश के हित में अपना जीवन तक त्याग देने की कसम खाते हैं–

'तुझ पे कोई गम की आंच आने नहीं दूं
कुर्बान मेरी जान तुझ पे, शाद रहे तू।'[5]

टाइम्स ऑफ इंडिया को दिये गया एक साक्षात्कार में गुलज़ार कहते हैं– मैं चाहता हूं कि 'ऐ वतन' हमारा राष्ट्रगीत बने। यह हम सभी के लिए बोलता है और यह बिना किसी पूर्वाग्रह के बोलता है। लोग पूछते रहते हैं कि राष्ट्रवाद क्या है। खैर, कोई इस गीत के माध्यम से राष्ट्रवाद को परिभाषित कर सकता है।[6]

मनोज मुंतशिर द्वारा लिखित 'तेरी मिट्टी' गीत की बुनावट देशभक्ति की सच्ची भावना से हुई है। यह गीत 2019 की 'केसरी' फिल्म के लिए लिखा गया था। इस फिल्म का कथानक सारागढ़ी की लड़ाई पर आधारित है, जो 1897 में ब्रिटिश भारतीय सेना की 36वीं सिख रेजिमेंट के 21 सैनिकों और अफगान आदिवासियों के बीच हुआ था। यह गीत 2019 की शुरुआत में भारतीय फिल्मी गीतों के चार्ट में उच्च स्थान पर रहा। 'तेरी मिट्टी' गीत की पंक्तियां देशभक्ति भावना से ओतप्रोत है, जिसमें देश के लिए जीवन बलिदान देने वाले वीरों के प्रेम और आत्मसमर्पण को व्यक्त किया गया है–

तलवारों पे सर वार दिए,
अंगारों में जिस्म जलाया है,
तब जाके कहीं हमने सर पे
ये केसरी रंग सजाया है।[7]

इन पंक्तियों में उन साहसी वीरों की बहादुरी और आत्मसमर्पण को दर्शाया गया है जिन्होंने देश की रक्षा हेतु अपने सिर तक कट जाने पर भी तनिक न डरे और आक्रमियों से लड़ते हुए अपने जिस्म को आग में जलने तक का कष्ट सहा। गीतकार ने सिखों के सिर के केसरिया रंग की पगड़ी को उनके बलिदान और साहस का प्रतीक बनाया है। भाव यह है कि देश के लिए निर्भीक होकर सिखों ने अपनी जान का त्याग किया है। उसके बाद ही वे अपने माथे पर यह केसरिया रंग धारण करते हैं, जो बलिदान और वीरता का रंग है।

सैनिक अपने वतन को संबोधित करते हुए कहता है कि वतन के साथ उसका प्रेम बहुत अद्वितीय था। वह अपने देश के लिए जान तक कुर्बान कर चुका है क्योंकि बाकी रिश्तों से बढ़कर था देश के साथ उसका रिश्ता। वह अपने प्राण त्यागने की बात पर गौरव भी महसूस करते हैं और अपने देश की अस्मिता की रक्षा

हेतु सेवा कर सकने पर स्वयं को सौभाग्यशाली भी मानते हैं। देश के लिए मर मिटने का अवसर उसे आनंद देता है–

ओ वतन वे मेरे वतना वे
तेरा मेरा प्यार निराला था
कुर्बान हुआ तेरी असमत पे
मैं कितना नसीबों वाला था।[8]

इस गीत को लिखने का उद्देश्य फिल्म के आखिरी दृश्य में मरते हुए एक सैनिक के अंतिम विचारों को दर्शाना था। गीतकार अपने उद्देश्य को पूरा करने में सफल सिद्ध हुआ है।

2021 के 'भुज : दे प्राइड ऑफ इंडिया' फिल्म के लिए मनोज मुन्तशिर द्वारा लिखित गीत है 'देश मेरे।' इस गीत में देश के प्रति गहरी श्रद्धा और सम्मान प्रकट किया है–

ओ देश मेरे, तेरी शान पे सदके
कोई धन है क्या तेरी धूल से बढ़के।[9]

इन पंक्तियों में भारतवर्ष की महिमा का गायन हैं। इस देश के निवासी होने पर गौरव प्रकट करते हुए अपनी धरती को नमन करते हैं। इन पंक्तियों से गीतकार का तात्पर्य यह है कि वे अपने देश के सम्मान और प्रतिष्ठा के लिए कुछ भी समर्पित करने को तैयार हैं। देश की मिट्टी से बढ़कर कोई धन नहीं है। विश्व में कोई भी संपत्ति, कोई भी ऐश्वर्य, अपनी जन्मभूमि की पवित्र पावन धूल से बढ़कर नहीं हो सकता। यह देशभक्ति की भावना का अत्यंत मनोहर चित्रण है। इस गीत में काव्यात्मक ढंग से गीतकार ने बलिदान, स्मरण और अमरता की भावना को भी व्यक्त किया है।

'कभी याद करें जो जमाना
माटी पे मर मिट जाना
जिक्र में शामिल मेरा नाम हो।[10]

इन पंक्तियों में आकांक्षा रखते हैं कि जब भविष्य में लोग अतीत को याद करें या जब कभी इतिहास की चर्चा हो, देश के लिए जान की आहुति देने वाले वीरों, सैनिकों और महान व्यक्तियों को याद करें, उस वक्त उनका भी नाम उसमें शामिल हो। ये पंक्तियां देशभक्ति, त्याग और अमरता की आकांक्षा को दर्शाती हैं।

हिंदी के फिल्मी गीतों में देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना का अनूठा संगम देखने को मिलता है। फिल्मी गीतों का उद्देश्य मनोरंजन की सीमा को पारकर हमारे देश के प्रति प्रेम, बलिदान की भावना और आत्मगौरव आदि अनुभूतियों को मानव मन में मजबूत करने के लिए सक्षम हुए हैं। भारत एक बहुभाषी देश है। फिर भी भारत के लगभग सभी राज्यों में हिंदी संपर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त है। हिंदी फिल्म और फिल्मी गीतों के प्रेमी सिर्फ हिंदी प्रदेशों में ही नहीं, हिंदीतर प्रदेशों में भी हैं। हिंदी फिल्मी गीतों की लोकप्रियता और प्रभाव को देखते हुए यह स्पष्ट होता है कि हिंदी फिल्मी गीत भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना के संचार का एक महत्वपूर्ण माध्यम बने रहेंगे।

संदर्भ सूची :

1. बॉलीवुड पाठ विमर्श के संदर्भ, ललित जोशी, पृ.9। **2.** 151 श्रेष्ठ राष्ट्रीय गीत. (सं) सुनील जोगी, पृ.5। **3.** द हिन्दू, विपिन नायर, 26 अप्रैल 2018 अंक। **4.** गुनगुनाइए, गुलजार, पृ.588। **5.** गुनगुनाइए, गुलजार, पृ.588। **6.** टाइम्स ऑफ इंडिया, देबराती एस सेन, 6 मई 2018 अंक। **7.** तेरी मिटटी, केसरी, Zee Music Company- You Tube। **8.** तेरी मिटटी, केसरी, Zee Music Company- You Tube। **9.** देश मेरे, भुज : द प्राइड ऑफ इंडिया, T-Series You Tube। **10.** देश मेरे, भुज : द प्राइड ऑफ इंडिया, T-Series You Tube।

Remeesa CU
Chundakkadan (H)
Thandekkad Mudickal
P.O. Perumbavoor Ernakulam (Dist)
PIN-683547 Mo. 8089260731.

❑❑

मुगल दरबार से जैन व्यापारियों के संबंध

निशा भारद्वाज

मुगल बादशाह अकबर के दरबार में जैन मुनियों का प्रभाव देखने को मिलता है। अकबर के दरबार में हरविजयसूरि, विजयसेनसूरि, भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र और जिनचन्द्र आदि को जैन धर्म, नियमों और सिद्धान्तों की दरबार में चर्चा और अकबर एवं उसके पुत्रों को शिक्षा देते हुए देखते हैं। अकबर के बाद जहाँगीर के शासन काल में भी जैन मुनियों की निरन्तरता और उनके धार्मिक उपदेशों से सराबोर दरबार का चित्र देखने को मिलता है। अचानक 1612 और 1616 में जहाँगीर को जैन मुनियों पर क्रोधित होते हुए देखते हैं। जहाँगीर गुस्से में आकर 1612 में जैन मुनियों को राज्य से निष्कासित कर देता है और 1616 में सिद्धिचन्द्र पर विवाह का दबाव बनाने का असफल प्रयास करता है। हालांकि सिद्धिचन्द्र अपने तर्कों से जहाँगीर को मौन कर देता है और 1618 में दरबार छोड़कर गुजरात चला जाता है। यहीं से हम जैन मुनियों का दरबार से मोहभंग होते हुए देखते हैं। दूसरा, जैन मुनियों के साथ शाही संबंध समाप्ति के साथ ही हम दरबार में हीरानंद मुकानी, खड़गसेन, बनारसीदास और शांतिदास झावेरी की उपस्थिति देखने को मिलती है। तीसरा, इसी समय से जैनों के संघ पर गृहस्थों का नियन्त्रण स्थापित होने के बारें में पता चलता है। जैन गृहस्थ मुख्य रूप से व्यापारी, साहूकार, बनिया, दलाल और जौहरी थे, जोकि अहिंसा व्रत कारण न तो कृषि करते थे और न ही प्रदूषित सामानों यानि मांसाहारी चीजों, पशु की खालों, चमड़ा और पशुओं का व्यापार करते थे।

आईन ए अकबरी और मिरात ए अहमदी अनुसार मुगल काल में धर्म के आधार पर जैन बनियों, व्यापारियों, साहूकारों और जौहरी लोगों ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया था। जैन मुख्यता गुजरात एवं राजस्थान की भूमि पर निवास करते थे। जैनों ने मुगल काल में अपने व्यापार के विस्तार संग अपने निवास स्थल का भी क्षेत्रीय विस्तार किया था। इस समय जैन बनियों और व्यापारियों को श्रावक कहकर पुकारा जाता था। जैन व्यापारी, व्यापारिक प्रतिस्पर्धा और सौदेबाजी में चालबाजी करने की कला में माहिर होते थे। जैन व्यापारी शाकाहारी और अंकगणित में माहिर होते थे। जैन व्यापारियों ने गुजरात में गाय, बछड़ों और बैलों को काटने एवं हत्या से बचाने के लिए राज्याधिकारियों को एक बड़ी रकम पेशकश के रूप में प्रदान करते थे। अहिंसा की नीति का पालन करने के तहत जैन व्यापारी और बनिया दिन ढ़लते ही अपने व्यापारिक प्रतिष्ठानों और दुकानों को बंद कर देते थे, ताकि मोमबती जलानी न पड़े और कीट-पतगें मोमबती एवं दीये की लौ में जलकर न मरे। इस प्रकार गृहस्थ जैनियों ने बचपन से ही पिता का व्यवसाय और अंकगणित की शिक्षा पाकर अपनी व्यावसायिक यात्रा को आरम्भ

करते थे। जैन व्यापारी और बनिया अपने पिता से व्यवसाय का पाठ पढ़कर और अनुभवों के संग्रह के आधार पर 16-17 साल की उम्र तक सौदेबाजी में मुनाफा प्राप्ति की कला में दक्षता ग्रहण कर लेते थे। दूसरा, बचपन से व्यापार-वाणिज्य की कला में दक्षता हासिल कर लेने के कारण सफलता और प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी।

ऐतिहासिक उदाहरणों के आधार पर बनिया अपने बेटों को बचपन से ही अपने साथ में रखकर सौदा करने और व्यापार करने की प्रत्येक कला से परिचित कराकर उनको आत्मनिर्भर बनने में मदद करते थे। बनिया अपने बच्चों को अंकगणित और जमा-घटा की शिक्षा बिना कागज-कलम के आकड़ों के आधार पर पल भर में करना सिखाते थे। ताकि पलभर में हिसाब-किताब हो जाऐ। जैसे कि बनिया वस्त्र में हाथ देकर दूसरे बनिया का पूरा हाथ पकड़ते तो 1000 रुपया का सौदा, पाचों अंगुलिया 500 रुपया, एक अंगुली 100 रुपया और अंगुली का एक पोर 10 रुपया का द्योतक कला सिखाकर मौन रहकर सौदेबाजी करना सिखाते थे। जैन व्यापारियों की सौदेबाजी की कला संग बनियागिरी की शिक्षा भी देख लेते हैं। जैसे- खड़गसेन को 8 साल की उम्र तक चकसल या चटसल विद्यालय भेजा गया था, ताकि वह लिखना-पढ़ना सीख सके। खड़गसेन ने सोने-चाँदी में अशुद्धियाँ परखा, रजत टका, असली-नकली सिक्के, खोट निकालना और हिसाब-किताब की शिक्षा पाकर बाजार में जाना प्रारम्भ कर दिया था। यह प्रशिक्षण पहले हाट सराफी सिखाई यानि साहूकारी सीखी थी। उनका यह प्रशिक्षण 12 साल की आयु तक चला था। खड़गसेन अपने पिता मूलदास व्यापारी की मृत्यु बाद अपने नाना के घर पर मदनसिंह श्रीपाल के संरक्षण में चले गए थे। खड़गसेन ने अपने चाचा सुंदरदास संग सोने के व्यापार की साझेदारी की थी। इस लाभदायक साझेदारी में ही खड़गसेन का विवाह हुआ और उसने घर खरीदा था। चाचा सुंदरदास की मृत्यु बाद उसके बेटों ने लिखित खातों के आधार पर साझेदारी का विघटन आसानी से बिना झगड़े के कर लिया था। इस प्रकार की पारिवारिक साझेदारियाँ जैन व्यापारियों में आमबात थी। लेकिन जैन व्यापारी परिवार के बाहर भी मित्रता के आधार पर साझेदारी करते थे। उदाहरण के तौर पर खड़गसेन ने अग्रवाल रामदास और उसके पुत्र बनारसीदास ने नरोत्तमदास और ओसवाल धर्मदास संग व्यापारिक गठबंधन किया था। जैन समुदाय आपस में मिलकर अपने समुदाय के लोगों के हितों को सरंक्षण प्रदान करते थे। इसके अलावा बनारसीदास के अनुसार व्यापारी के व्यापार की सफलता की कुँजी उसकी सम्पति की गोपनीयता होती थी। जैन अपनी सम्पति की जानकारी दूसरे बनियों तक को नही होने देते थे। इसलिए ये आपस में एक-दूसरे की सम्पति का अनुमान नही लगा सकते थे। इसी कारण अनुमान के आधार पर वीरजी वोरा की सम्पति 1660 के दशक में 80 लाख मानी जाती है। इस प्रकार जैन व्यापारी बचपन से अपने पिता से व्यापार और बिणज की बारीकियाँ सीखकर 14-15 साल की उम्र तक आत्मनिर्भर व्यापारी बन जाते थे। दूसरा, जैन व्यापारी परिवार और मित्रों के साथ साझेदारी करके व्यापार के उतार-चढ़ाव से राहत की प्राप्ति करते थे। तीसरा, जैन व्यापारी परिवारजनों एवं मित्रों के साथ मिलकर साझा व्यापार करने के बावजूद व्यापारिक नियमों का पालन करके लिखित खातों की धारणा में विश्वास करते थे, जिसके कारण उनको नफा-नुकसान और धांधलीबाजी से मुक्ति प्राप्त होकर शुद्ध व्यापार धारणा को बल प्रदान करते थे। जैन निरन्तर अपने धर्म के नियमों का पालन करके ही पारिवारिक व्यवसाय अपनाता था, ताकि मुसीबत के समय अन्य जैन व्यापारी उसकी सहायता कर सके। जैसेकि जैन व्यापारी बारिश के मौसम में यात्रा के लिए बैल गाड़ियों का उपयोग नही करते थे। दूसरा, 1694 के अकाल समय बड़ी संख्या में मारवाड़ी व्यापारी पटना जाकर बस गए थे, क्योंकि पटना में हीरानंद शाह ने अपना वर्चस्व स्थापित करके अपनी निगरानी और संरक्षण में दूसरे जैन व्यापारियों का मार्ग प्रशस्त किया था।

जहाँगीर के शासन काल तक राजधानी आगरा

साम्राज्य के केन्द्र में एक सम्पन्न आबादी वाला व्यापारिक एवं राजनैतिक केन्द्र था। इतिहासकार जॉन ई कॉर्ट अनुसार आगरा की सम्पन्न स्थिति और व्यापारिक लाभों का फायदा उठाकर हजारों जैन व्यापारी दूसरे स्थानों से आगरा में आकर बस गए थे। जैनों ने व्यापारी होने के साथ-साथ मुगल प्रशासनिक व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर अपनी आधिकारिक भागीदारी को प्रस्तुत किया था। दूसरा, जैनों ने शहर के व्यापारिक नेटवर्क के आधार रूप में अर्थात दुभाषिया, अनुवादक, दलाल, बनिया, व्यापारी और साहूकार रूप से राजस्व स्रोतों को बढ़ाया था। जैन बनिया, व्यापारी और जौहरी होने के साथ-साथ दलाली भी करते थे। जैन, छोटे व्यापारी, दलाल, दुभाषिया अपने समुदाय और प्रशासन के बीच तथा साथी व्यापारियों एवं यूरोपीय कम्पनियों के बीच मध्यस्थता, दलाली और अनुवादक तीन प्रकार की भूमिका का निर्वाह करते थे। जैन दलाल और दुभाषिए समय एवं परिथितियों के मुताबिक व्यापारिक आचरण और स्थिति को पेश करके व्यापार को अपने स्वामी व्यापारी के पक्ष में करके मुनाफाकारी बनाकर स्वयं दोनों पक्षों से कमीशन कमाते थे। दूसरा, जैन व्यापारी, दलाल और अनुवादक अपने समुदाय के पक्ष में व्यापारिक वस्तुओं की मांग और संग्रह पर एकाधिकार स्थापित करके वाणिज्यिक नेटवर्क पर भी अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते थे, जैसेकि वीरजी वोरा ने लौंग और काली मिर्च के व्यापार को कम्पनी के साथ अपनी शर्तो पर तय किया था। इस प्रकार व्यापारिक कार्यो एव उद्यमों पर जैन बनियों का प्रभुत्व स्थापित था। आईने अकबरी अनुसार मुगल काल में स्थानीय बाजारों में खरीद-फरोख्त पर राज्य निगरानी बनाए रखने के लिए शहर के प्रत्येक मोहल्ले में एक शाही दलाल नियुक्त किया जाता था। उसकी जानकारी के बिना कोई लेनदेन नही हो सकता था। दलाल विदेशी व्यापारियों के व्यापारिक प्रतिष्ठानों का भी अनिवार्य हिस्सा होते थे। यूरोपीय व्यापारी दलाल की दुभाषिया और बाजार की खबरों पर जानकारी के अधिकार कारण उनकी सेवा लेने के लिए उत्सुक एवं तत्पर रहते थे। 1690 के दशक में यूरोपीय व्यापारी ओविगंटन कहता है कि, कम्पनी के माल की खरीद को और अधिक लाभप्रद बनाने के लिए बनिया जाति के दलाल नियुक्त किए गए हैं। ये बनिया दलाल सभी वस्तुओं की दरों और मूल्यों की जानकारी रखने वाले विशेषज्ञ होते हैं। इन मूर्तिपूजक बनियों को यूरोपीय और मुगल सरदारों द्वारा दलाल के रूप में पंसद किया जाता है। 1660-70 के दशक में ये दलाल प्रत्येक सौदे का 1-2 प्रतिशत कमीशन लेते थे। दलाल मेहताना अलग से लेते थे। इस प्रकार दलाल अपनी तनख्वाह और कमीशन सहित 10-25 प्रतिशत की कमाई करते थे।

ज्यादातर गृहस्थ जैन बैंकर, रत्नों, जवाहारात और खुदरा सामानों के व्यापारी थे। 18वीं सदी के अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि, भारत की आधी से ज्यादा व्यापारिक पूँजी जैन व्यापारियों के हाथों से गुजरती है। राज्य और राजस्व के अधिकारी मुख्य रूप से जैन हैं, जैसेकि लाहौर से लेकर समुद्र तटीय शहरों के मुख्य व्यापारी जैन बैंकर हैं। अकबर का कोषाध्यक्ष और मंत्री कर्मचन्द एवं थानसिंह भी जैन थे। मुगलों ने जगतसेठ यानि विश्व का बैंकर की उपाधि भी जैन व्यापारियों को विभिन्न क्षेत्रों में प्रदान कर रखी थी। गुजरात में जैनों का व्यापार और शिल्प संघों का बहुत विकास हुआ था। गुजरात के जैन व्यापारियों को राजकुमार तक की संज्ञा प्रदान की जाती थी। गुजरात का नगर प्रशासन नगरसेठ यानि जैन व्यापारी के ईद-गिर्द घूमता रहता था। जबकि जयपुर और बीकानेर के दरबार में जैन बैंकरों और व्यापारियों के प्रभुत्व कारण यहां के शासन को बनिया राज की संज्ञा प्रदान की गई थी।

मुगल काल में आगरा के बाजार में अनेक कटरों की वस्तुओं के आधार पर स्थापना कर रखी थी, जिनमें जैन व्यापारियों की प्रधानता थी। आगरा की आबादी में लगातार इजाफा होता गया था, क्योंकि दूसरे स्थानों के जैन व्यापारी और बनिया आगरा में आकर बस गए थे। दूसरा, अकबर से लेकर जहाँगीर के अनेक पदाधिकारी जैन बनिया थे। जहाँगीर के अधिकारी बंधु कुनपाल और सोनपाल ओसवाल ने राज्य सेवा करते हुए बादशाह की

इच्छा से आगरा में विशाल मंदिर का निर्माण करवाया था। 1614 में इन दोनों बंधुओं ने मंदिर में भव्य समारोह का आयोजन करवाकर धर्ममूर्ति और उसके शिष्य कल्याणसागर के हाथों श्रेयांसनाथ और महावीर की प्रतिमाओं की प्राण प्रतिष्ठा करवाई थी। आबादी और बाजारों के बढ़ते विस्तार कारण शाहजहाँ ने राजधानी दिल्ली में स्थानातंरित कर दी थी। शाही परिवार के दिल्ली में चले जाने के बावजूद आगरा के व्यापारिक महत्व और बाजार की रौनक एवं आबादी पर कोई विशेष फर्क नही पड़ा था। मोती कटरा और परवेज कटरा में ओसवाल जैन बनिया मुख्य तौर पर व्यवसायी और बनिया थे। आगरा के जैन व्यापारी रईसों की तरह रहकर संगीत आदि अन्य उत्सवों का आयोजन किया करते थे। साहू सबलसिंह मोठिया और उतमचन्द आगरा का प्रमुख जैन व्यापारी था। जौहरी बाजार की बगल से चलने वाला हुंडी व्यापार मुख्यतः जैन व्यापारी संचालित करते थे, जिसमें मुनाफे की दर बहुत ज्यादा थी। शालिन जैन अनुसार व्यापारिक चालाकिया जैन व्यापारियों की रणनीति का हिस्सा होती थी। जैन व्यापारी मुनाफा कमाने के लिए अपने प्रतिस्पर्धी व्यापारियों और ग्राहकों के साथ चालाकियों का बहुत ज्यादा उपयोग करते थे। जैसेकि बनारसीदास को अपने सहभागी व्यापारी सबलसिंह के साथ व्यापारिक लेनदेन को निपटाने में काफी सारी समस्याओं और नुकसान का सामना करना पड़ा था। दूसरा, जैन व्यापारी अपनी सम्पति को अधिकारियों के प्रकोप से बचाने के लिए उसका गुप्त रूप से संग्रह करके रखते थे और बहुत ही विन्रम व्यवहार अपनाकर सादा जीवन जीते थे। व्यापारी अपने धन को जब्त होने से बचाने के लिए मंदिर निर्माण में खर्च कर देते थे, ताकि समुदाय बीच दानवीर व्यापारी रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हो, जैसेकि तिहुना शाह ने आगरा में जैन मंदिर का निर्माण करवाया था। जहाँगीर के शासन काल में शास्त्र विशेषज्ञ रूपचंद ने आगरा में आकर इसी मंदिर को अपने ठहरने के स्थान रूप में चुना था। इस प्रकार जैन व्यापारियों ने अपनी आर्थिक सुदृढ़ता को ताकत बनाकर मंदिरों के रूप में प्रस्तुत किया था, जोकि जैन धर्म और दर्शन के स्वरूप प्रस्तुती संग पशु-पक्षियों के लिए चिकित्सालय और गरीबों के लिए सहायता केन्द्र थे।

हीरानंद मुकानी जहाँगीर के दरबार में आगरा के जैन व्यापारियों का प्रतिनिधि था। बनारस में श्रीमल व्यापारी का कपड़ों और आभूषणों के व्यापार पर प्रभुत्व स्थापित था। वह आगरा, जौनपुर, बनारस और पटना जाकर व्यापार करता था तथा इन स्थानों के जैन व्यापारियों और भिक्षुओं संग धार्मिक-व्यापारिक नेटवर्क की स्थापना करके अपना समुदाय और संघ में महत्वपूर्ण स्थान स्थापित किया था। जैनों ने मुगल राजाओं को ऐश्वर्यपूर्ण दुर्लभ वस्तुओं, रत्नों, पत्थरों, आभूषणों और राजस्व स्रोत उपलब्ध कराकर दरबार के साथ अपने सम्बंधों का नव-अध्याय लिखा था। दूसरा, जैनों ने दरबार के साथ-साथ मुगल साम्राज्य की आर्थिक प्रगति में अर्थव्यवस्था, शहरों, बाजारों एवं बंदरगाहों का विकास और उनमें वस्तुओं की निरन्तर आपूर्ति करके, दुकानों एवं बनिया भूमिका द्वारा अपनी अहम् भूमिका को प्रस्तुत किया था। इस प्रकार जैनों अर्थात मुनि-संतों की संबंध समाप्ति के साथ बनिया, व्यापारी, जौहरी एवं दलाल द्वारा जैन गृहस्थों ने मुगल राज्य में अपनी नव-भूमिका को ईजाद किया था। इन्हीं किरदारों में जैन जौहरी एवं व्यापारी चन्दू सिंघवी, शांतिदास झावेरी, वीरजी वोरा, खड़गसेन, बनारसीदास, नानू गोधा, हीरानंद मुकानी आदि अन्य जैन व्यापारिक परिवारों ने एक ही स्थान पर रहकर परिवार के व्यापार को फैलाना एवं घरानों परिवार के व्यापार में अन्य सामानों एवं वस्तुओं को शामिल करके समय की जरूरत मुताबिक परिवार के बेटों को विभिन्न स्थानों पर भेजकर उनके व्यापार और परिवार को स्थापित करना, जैसेकि हीरानंद मुकानी ने पटना, ढाका एवं मुर्शिदाबाद में अपने बेटों को परिवार सहित बसाकर अपने व्यापार का विस्तार किया था। अपनी काबिलियत और प्रभाव के आधार पर मुगल शासकों के दरबार में उपस्थित होकर व्यापारिक रियायतें और आर्थिक नीतियों का अपने पक्ष में निर्माण करवाया था।

जैन व्यापार, व्यापारी एवं शहर जहाँगीर के

शासन काल तक राजधानी आगरा साम्राज्य के केन्द्र में एक सम्पन्न आबादी वाला व्यापारिक एवं राजनैतिक केन्द्र था। इतिहासकार जॉन ई कॉर्ट अनुसार आगरा की सम्पन्न स्थिति और व्यापारिक लाभों का फायदा उठाकर हजारों जैन व्यापारी दूसरे स्थानों से आगरा में आकर बस गए थे। जैनों ने व्यापारी होने के साथ-साथ मुगल प्रशासनिक व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर अपनी आधिकारिक भागीदारी को प्रस्तुत किया था। दूसरा, जैनों ने शहर के व्यापारिक नेटवर्क के आधार रूप में अर्थात दुभाषिया, अनुवादक, दलाल, बनिया, व्यापारी और साहूकार रूप से राजस्व स्रोतों को बढ़ाया था। जैन बनिया, व्यापारी और जौहरी होने के साथ-साथ दलाली भी करते थे। जैन, छोटे व्यापारी, दलाल, दुभाषिया अपने समुदाय और प्रशासन के बीच तथा साथी व्यापारियों एवं यूरोपीय कम्पनियों के बीच मध्यस्थता, दलाली और अनुवादक तीन प्रकार की भूमिका का निर्वाह करते थे। जैन दलाल और दुभाषिए समय एवं परिस्थितियों के मुताबिक व्यापारिक आचरण और स्थिति को पेश करके व्यापार को अपने स्वामी व्यापारी के पक्ष में करके मुनाफा कमाते थे। दूसरा, जैन व्यापारी, दलाल और अनुवादक अपने समुदाय के पक्ष में व्यापारिक वस्तुओं की मांग और संग्रह पर एकाधिकार स्थापित करके वाणिज्यिक नेटवर्क पर भी अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते थे, जैसेकि वीरजी वोरा ने लौंग और काली मिर्च के व्यापार को कम्पनी के साथ अपनी शर्तो पर तय किया था।

जहाँगीर के काल से जैन व्यापारियों ने मुगल दरबार में अपना प्रभावशाली स्थान बनाना और प्रशासन एवं प्रशासनिक नीतियों को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। सर्वप्रथम जहाँगीर ने गुरुवर विजयसेनसूरी को मुगल दरबार में बुलाने के लिए चित्रकार शालिवाहन द्वारा चित्रित एवं लिखित विज्ञप्ति पत्र में आगरा के 88 जैन व्यापारियों के नाम और हस्ताक्षर करवाकर आमन्त्रित किया था। ऐसा करके जहाँगीर ने गुरुवर को यात्रा के दौरान ठहरने, खाने, मंदिर कर्मकाण्ड़, जुलुस और धर्मसभा की असुविधा न होने के तहत 88 जैन प्रभावशाली समृद्ध घरों और व्यापारियों के मार्ग में होने का विवरण उपलब्ध कराया था। इस सूची में कई प्रभावशाली जैन व्यापारी महिलाओं के भी नाम दर्ज हैं। इस पत्र में आगरा के राजमहल संग, जैन श्रावकों की हत्याओं पर पाबंदी का आदेश, भिक्षुओं और जैन प्रशासनिक अधिकारियों का विवरण और चित्र थे, जिनको बड़ी बारीकी और सुंदर ढंग से चित्रकार शालिवाहन ने तैयार किया था। इसी प्रकार उदयपुर के राजा जगतसिंह द्वारा जैन भिक्षु को राजपूत दरबार को धार्मिक उपदेश के लिए भेजे गए आमत्रंण पत्र में उदयपुर के बाजार, राणा, महल, मंत्रियों और जैन व्यापारियों के चित्र और नामावली भेजी गई थी, जैसेकि सेठ जोरावरमल बापना, शेरसिंह मेहता, नाहटा परिवार और 25 जैन व्यापारियों के हस्ताक्षर आदि भेजे गए थे। दूसरा, इन व्यापारियों के अन्य स्थानों पर व्यापार प्रतिष्ठान और परिवार बसाहट का विवरण भेजा गया था। ताकि भिक्षुओं को प्रतिदिन 20 मील की यात्रा के दौरान प्रत्येक पड़ाव पर भोजन, निवास, कर्मकांड और पूजा करने के लिए मंदिर उपलब्धता की समस्या न झेलनी पड़े।

मुगल दरबार में गुजरात के जैन व्यापारी शांतिदास झावेरी के प्रवेश से हम इतिहास का नया अध्याय प्राप्त करते हैं। जैन व्यापारी का मुगल दरबार में प्रवेश करने का सपना जहाँगीर की बहुमूल्य वस्तुओं, पत्थरों और जवाहारात के संग्रह के कारण संभव हो पाया था। दस्तावेजों के अनुसार जहाँगीर मूल्यवान गहनों का 1/3 मूल्य मालिक को अदा करता था। यदि जौहरी अपने बिक्री के लिए प्रस्तुत गहनों को सर्वप्रथम जहाँगीर के सामने प्रस्तुत करता तो जहाँगीर उसे उपकारों एवं विशेषाधिकार प्रदान करके लाभान्वित करता था। इसलिए शांतिदास ने जहाँगीर की नीति को जानकर 1628 ई. तक अपने आभूषणों और शाही महल के लिए दुर्लभ मूल्यवान वस्तुओं को पेश करके कम मूल्य प्राप्त करने के बावजूद अनेक विशेषाधिकार प्राप्त करके अहमदाबाद में अपने व्यापार को लाभदायक बनाकर उसका विस्तार करके झावेरीबाड़ा में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। दूसरा, शांतिदास ने नई बनावट के गहनों

एवं रत्नों के व्यापार द्वारा हरम तक अपनी पैठ स्थापित कर ली थी। मुगल दरबार के प्रमुख व्यापारी और जौहरी रूप में शांतिदास को मान्यता देकर जहाँगीर 1618 में फरमान देता है कि, कोई भी अधिकारी उसके व्यापार में हस्तक्षेप न करे। दूसरा, शांतिदास दरबार का विश्वस्त सेवक है, इसलिए उसको राज्य की तरफ से सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान किया जाए, ताकि वह दरबार को निरन्तर उपहार, भेंट, आभूषणों और दुर्लभ वस्तुओं की सप्लाई कर सके।

इतिहासकार देसाई अनुसार मुगल बादशाह जहाँगीर ने शांतिदास झावेरी को मामा और नगरसेठ की उपाधि से सम्मानित किया था। मुगल हरम की महिलाएं शांतिदास को नव-जवाहारात लाने पर भाई कहकर सम्बोंधित करती थी, जबकि राजकुमार आदि उनको मामा कहते थे। इस प्रकार शांतिदास का मुगल हरम, परिवार तथा अन्य मनसबदार परिवारों से व्यापार व सामाजिक संबंधों वाला नाता स्थापित हो गया था, जिसमें मोल-तोल के साथ अनेक व्यापारिक रियायतें और विशेषाधिकार सम्मिलित थे। शांतिदास ने 1627 में जहाँगीर की मृत्यु बाद 1628 में शाहजहाँ के बादशाह बनने पर 5 अरबी घोड़े भेंट में दिए थे, जिसमें से शाहजहाँ ने एक को स्वीकार करके उसका नाम 'नजर ए मुबारक' रखा था। दरबार की तरफ से शाहजहाँ ने शांतिदास को एक हाथी और एक लाख रुपये की भेंट दी थी। इस प्रकार शांतिदास को वंशानुगत रूप से मुगल हरम में अपने गहनों को प्रदर्शित करने का विशेषाधिकार प्राप्त हो गया था। इस प्रकार शांतिदास ने अपने गहनों की नव-बनावट के मुगल हरम में व्यापार द्वारा मुगल दरबार के साथ व्यापारिक सम्बंधों का नया अध्याय लिखा, जोकि आज अरविन्द मिल कम्पनी पर आकर रुकता है।

1636 में शाहजहाँ ने शांतिदास को गुजरात का कार्यवाहक सूबेदार नियुक्त किया था, साथ ही व्यापारिक सम्बंधों में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी थी। 1642 में शाहजहाँ ने शांतिदास को फरमान भेजकर पिता बादशाह को बेचे कुछ रत्न वापस खरीदने को कहा था, क्योंकि उनकी बनावट और डिजाइन शाहजहाँ को पसन्द नहीं आई थी। इसी श्रृंखला में आगे बढ़कर बादशाह औरंगजेब ने भी अहमदाबाद की जनता और व्यापारियों को सद्भावना और राज्यहित में कार्य करने का संदेश भी शांतिदास के माध्यम से भेजा था। साथ ही औरंगजेब ने मुराद बख्श का कर्जा अदा करके उसको अपना जौहरी, व्यापारी, मध्यस्थ और दरबार में दुर्लभ वस्तुओं का आपूर्तिकर्ता बनाए रखा था। 4 फरवरी 1660 के फरमान के तहत औरंगजेब ने शांतिदास को फटकार लगाई थी, क्योंकि उसने उच्च एवं धनी समाज के लोगों द्वारा ग्रहण किए न जा सकने योग्य वस्तुओं को दरबार में भेजा था। शांतिदास को बादशाह की प्रकृति अनुसार दुर्लभ बर्तन भेजने का आदेश भेजा गया था। शांतिदास के नाम पर मुगल दरबार की तरफ से जारी 22 फरमानों का विवरण प्राप्त होता है। इन सभी फरमानों द्वारा बादशाह जहाँगीर, शाहजहाँ एवं औरंगजेब एवं राजकुमारों खुर्रम, दारा-शिकोह, मुराद बख्श और औरंगजेब की गहनों, जवाहारात, दुर्लभ वस्तुओं की मांग, दरबार की तरफ से जारी कर संबंधी रियायतें, प्रशासन को शांतिदास के व्यापार में हस्तक्षेप न करने का आदेश और प्रशासनिक कार्यो से सम्बंधित विवरण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार शांतिदास झावेरी ने मुगल दरबार में अपने व्यापार द्वारा बादशाह से अनेक उपकार प्राप्त किए थे। दूसरी तरफ शांतिदास ने गुजरात के तपागच्छ जैन संघ में भी अपने प्रभाव को, दरबार की तरफ से गिरनार और अन्य धार्मिक स्थलों के पक्ष में फरमान प्राप्त करके बढ़ाया था। शांतिदास ने व्यापार करने के साथ-साथ संघ में अपने प्रभाव और भूमिका को अहम् बनाने के लिए 9 लाख रुपये की लागत से सहसपुरा में भगवान पार्श्वनाथ को समर्पित सफेद संगमरमर से निर्मित चिंतामण मंदिर बनवाया था। इस मंदिर में धर्मसभा संग जैन भिक्षुओं के लिए परिवार की तरफ से पद्वी समारोह भी आयोजित किया जाता था। शांतिदास के समान ही सूरत में वीरजी वोरा नामक अन्य प्रमुख जैन व्यापारी था, जिसने भी मुगल नीतियों और प्रशासनिक व्यवस्था को प्रभावित किया था।

इतिहासकार मकरंद मेहता अनुसार सूरत का वीरजी वोरा भी एक प्रमुख जैन व्यापारी था, जोकि कपड़ा, नील, चाँदी, चीनी और मसालों सहित बहुत सारे सामानों का व्यापार करता था। 1629 में वीरजी ने अंग्रेजों से मूंगा खरीदकर काली मिर्च बेची थी। 1633 में वीरजी ने अग्रेजों को 12000 तोला सोना बेचा था। 1634 में पारा, 1621 में हल्दी और इलायची बेची थी। 1648 में डचों से उनकी सारी लौंग और 1650 में 20 मण चाय, 1651 में अग्रेजों से हाथी दांत खरीदा था। वीरजी समय और परिस्थिति अनुसार अपने दलालों का समूह एकजुट करके उनसे अन्य स्थानों के व्यापारियों और कम्पनियों को अपने पक्ष में परिस्थिति एवं व्यापार करवाकर उनका पूरा माल खरीद लेता था। फिर उन वस्तुओं का एकाधिकार प्राप्त करके वीरजी वोरा अपनी शर्तो पर कम्पनी और व्यापारियों को वस्तुओं की बिक्री करता था। अंग्रेज कम्पनी अनुसार वीरजी वोरा ने कम्पनी के सामान गर्म मसाला-लौंग, कालीमिर्च आदि और सीसा पर एकाधिकार स्थापित किया था। उनके अनुसार वीरजी एक महंगा लेनदार...जोकि सूरत में हमारी जरू रतों को अपने निजी स्वार्थो के लिए पूरा करने वाला था, क्योंकि वह ऋण के बदले अपने सामान को हमारे जहाजों पर लादकर व्यापार करता था, मना करने पर तुरंत रकम वापिस करने की मांग करता था। इस प्रकार अंग्रेजों और डचों ने महसूस किया था कि, जब तक वे वीरजी वोरा के कर्जदार रहेंगे तब तक उनका व्यापार घाटे में रहेगा। वह अपनी शर्तो और मूल्य पर व्यापारियों को सामान बेचा करता था। इस प्रकार वीरजी वोरा ने सूरत के बंदरगाह के व्यापार में बहुत से सामानों पर एकाधिकार नीति का अनुपालन करके अपने प्रभाव को यूरोपीय कम्पनियों और सूबेदारों तक को इतिहास में दर्ज करने के लिए मजबुर किया था। वीरजी वोरा की समृद्ध व्यापारिक स्थिति कारण उसे मुगल स्रोतों में व्यापारिक राजकुमार की संज्ञा दे रखी है।

यूरोपीय अधिकारी फ्रायर अनुसार जैन बनिया और व्यापारी अंकगणित में कुशाग्र बुद्धि के व्यक्ति होते थे। चंद मिनटों में हजारों-लाखों रुपिया का अंगुलियों पर हिसाब कर लेते थे। कीमत भी कपड़े के नीचे अंगुली करके सांकेतिक रूप से तय करके मौन रहकर दलाल को बता देते थे। ज्यादातर जैन व्यापारी मौन एवं संयमपूर्ण तरीके से चुपचाप रहकर व्यापार, कीमत तय और बिक्री करते थे। वीरजी को 1664 में सूरत पर शिवाजी के हमले के कारण 20 पौंड वजन के मोतियों, रत्न, सोने और 30 फेंच मिलियन डालर का व्यापारिक नुकसान हुआ था। तब वीरजी वोरा ने शिवाजी की फिरौती मांग के खिलाफ औरंगजेब के दरबार में प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होकर सूरत की किलेदारी और सुरक्षा इंतजामों को पुख्ता करने की मांग की थी। वीरजी वोरा सूरत के प्रशासनिक मामलों में सलाहकार की भूमिका अदा करता था। 1672 में सूरत पर शिवाजी के हमले की आंशका मात्र पर सूबेदार ने वीरजी को शहर की रक्षा करने के लिए 500 घोड़े 3000 पैदल सैनिकों की सेना जुटाने हेतु 45000 रुपिया व्यापारियों से एकत्र करने का ठेका दिया गया था। वीरजी वोरा के ब्याज की दरें साढ़े तीन प्रतिशत से लेकर 12 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। इस प्रकार जैन व्यापारी वीरजी वोरा ने सूरत के व्यापार पर एकाधिकार को बनाए रखने के लिए कम्पनी के व्यापार पर उनके पूरे माल को खरीदकर और बैंकर रू प में वित्त पोषित करके नियन्त्रण बनाए रखने का प्रयास किया था।

मोनिका शर्मा अनुसार वीरजी वोरा द्वारा प्रदान की गई हुंडी सेवा का यूरोपीय कम्पनियाँ उपयोग करती थी, विशेषकर सूरत से आगरा तक वीरजी वोरा हुंडियों द्वारा धन भेजने पुरानी मुद्रा (पैगोड़ा, महमूदी आदि) को लेकर उनकी कीमत कम आंककर मुनाफा कमाता था। 1647 में वीरजी ने बर्मा के पेगू तक अंग्रेज कम्पनी की व्यापारिक यात्रा का वित्तपोषण अग्रिम धन देकर किया था। वीरजी वोरा को 1639 में शाहजहाँ ने दरबार में बुलाकर उनके व्यापार को निर्बाध बनाने के लिए उनकी इच्छानुसार सूरत के गर्वनर के खिलाफ वीरजी और अन्य व्यापारियों की शिकायतों का लेखा जोखा, व्यापारिक करों, शुल्कों एवं राजस्व नीति एवं अधिकारियों के व्यवहार को जाना और हाकिम को बर्खास्त कर दिया

था, ताकि मुगल राजस्व प्राप्ति स्रोत में कमी ना आए।

वीरजी वोरा के परिवार का विशाल व्यापारिक संगठनात्मक नेटवर्क भडौच, सूरत, बडौदा, अहमदाबाद, बुरहानपुर, गोलकुंडा, आगरा, दक्कन और मालाबार क्षेत्र तक स्थापित था। उन्होनें फारस की खाड़ी, लाल सागर और दक्षिण-पूर्व एशियाई बंदरगाह शहरों में भी अपनी व्यापारिक शाखाओं की स्थापना कर रखी थी। वीरजी का पोता नानचंद भी अग्रेजों के साथ व्यापार करता था। 1670 में नानचंद ने टिन, तांबा और ब्रांडेड कपडा खरीदा था। वीरजी वोरा ने औरंगजेब की सूरत के व्यापारियों को धर्मान्तरित करने की नीति पर भी रोक लगवाई थी। सूरत के अधिकारियों और काजी ने शाही आदेश के तहत उन सभी हिंदू और जैन व्यापारियों को सताना प्रारम्भ कर दिया था, जिन्होने मंदिर विध्वंस और पूजा स्थलों के अपवित्रीकरण पर रोक लगाने के लिए काफी धन खर्च किया था। 1669 में तुलसीदास पारेख व्यापारी का बेटा सूबेदार के अत्याचार और संपति हड़पने एवं जेल में डाल देने के डर से मुसलमान बन गया था। एक जैन बनिया ने धर्म परिवर्तन के दबाव से बचने के लिए आत्महत्या कर ली थी। इन घटनाओं के विरोध में सूरत के 8000 बनिया और व्यापारियों ने वीरजी वोरा की अगुवानी में धर्मान्तरण के खिलाप 23 नवम्बर 1669 को भडौच रवाना हो गए थे। हालांकि इससे पहले उन्होंने भीमजी पारेख के माध्यम से सूरत कारखाने के अध्यक्ष गैराल्ड अंगयार को सभी लोगों को जहाज पर सवार करके बम्बई भेजने की योजना को कार्यान्वित करवाने की योजना बनाई थी, जोकि असफल रही थी। धार्मिक उत्पीड़न की नीति के खिलाप सूरत व्यापारी संघ ने अपने सभी सदस्यों को व्यापार और दुकाने बंद करने का आदेश दिया था। इससे राज्य राजस्व को बहुत नुकसान हुआ था। गैराल्ड अंगियार के शब्दों में जैन बनियों के सूरत से पलायन बाद व्यापार में बहुत सारी बाधाएं उत्पन्न हो गई थी। सूरत में खाद्य और अन्य वस्तुओं का अभाव हो गया था। कस्टम हाउस और टकसाल बंद हो गई थी। चारों तरफ पैसे का अभाव पैदा हो गया था। तब औरंगजेब ने अपनी धर्मान्तरण की नीति पर पीछे हटते हुए सूरत में नव-सूबेदार को नियुक्त करके व्यापारियों में संदेश भेजा कि, गैर-मुस्लिम भी राज्य की महत्वपूर्ण प्रजा है। इस प्रकार वीरजी वोरा ने सूरत में व्यापार द्वारा वहाँ के प्रशासन और राजनीतिक नीतियों पर नियन्त्रण बनाए रखा था, ताकि उनके व्यापार, लेन-देन की गतिविधियों और एकाधिकार पर कोई अंकुश लगाने का प्रयास न कर सके।

गुजरात के अलावा जौनपुर एवं आगरा भी जैन व्यापारियों का निवास स्थल था, जहाँ से वे निर्बाध तरीके से अपनी व्यापारिक गतिविधियों को अंजाम देते थे। जौनपुर के व्यापारी खड़गसेन के पुत्र बनारसीदास ने अपनी रचना अर्द्धकथानाक में 1605 में अकबर की मृत्यु बाद दंगे भड़कने और जहाँगीर के शासक बनते ही मुगल शासन में स्थायीत्व आ जाने के साथ व्यापारिक संभावनाओं के भी रफ्तार पकड़ लेने की कहानी बयान की है। अर्द्धकथानाक में बनारसीदास बनारस की जैन तीर्थस्थल के रूप में यात्रा करता है। दूसरा, वह स्वयं द्वारा बनारस के बाजारों और शहर का व्यापारिक नगर के रूप में उपयोग करने की बात बताता है। बनारस शहर के धार्मिक निर्माण में जैन ओसवाल व्यापारियों का मुख्य योगदान रहा है। व्यापारियों द्वारा जैन तीर्थयात्राओं का आयोजन करना और मंदिर निर्माण गतिविधियों को अंजाम देना किसी व्यापारी द्वारा संघ एवं समुदाय में प्रतिष्ठा अर्जित करने एवं संघ पर अधिकार संग धार्मिक-व्यापारिक सम्बंधों को व्यावहारिकता प्रदान करना भी होता था। दूसरा, व्यापारी धार्मिक तीर्थ-यात्राओं का आयोजन बादशाह का प्रतिनिधि बनकर करता था, इससे उसकी समृद्धता और रुतबे का पता चलता है। धार्मिक यात्राओं के आयोजन द्वारा व्यापारी भिक्षुओं और राह में पड़ने वाले जैन व्यापारियों को आमंत्रण भेजकर यात्रा में सम्मिलित करते थे, जिसका प्रमाण आगरा के ओसवाल जैन व्यापारी हीरानंद मुकानी द्वारा 1603 में जहाँगीर की आज्ञा और प्रतिनिधि बनकर सम्मेद पर्वत की यात्रा आयोजित करने का विवरण प्राप्त होता है। इस प्रकार

की तीर्थ-यात्रा में श्रद्धालु लोग प्रतिदिन 12 से 15 मील की यात्रा बैलगाड़ी या घोड़े पर बैठकर करते थे, क्योंकि जैन आचार-संहिता में पशु-पक्षियों की सेहत, उपचार, दाना-पानी और यात्रा बावत् उपयोग में लेने के नियम पर आधारित था। इस तीर्थ-यात्रा में बनारसीदास का पिता खड़गसेन और अन्य व्यापारी भी सम्मिलित होकर सम्मेद पर्वत के दर्शन करने गए थे। इस प्रकार की अनेक व्यापारियों द्वारा जैन तीर्थो की यात्रा का बनारसीदास ने विवरण दे रखा है। जैसे कि *साहिब सही सलीम कौ, हीरानंद मुकीम, ओसवाल कुल जौहरी, बनिक बिटटकी सीम।। तीनी प्रयागपुर नगरसां, कीनौ उदम सार, संघ चलायो सिखी को, उत्तरयो गंगा पार।।*

इस प्रकार जैन व्यापरियों ने प्रमुख मुगल शहरों के व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित करके मुगल राजाओं को बड़ी मात्रा में राजस्व उपलब्ध कराया था। राजस्व देने संग जैन व्यापारियों ने दरबार को दुर्लभ वस्तुओं की भेंट देकर विशेषाधिकार प्राप्त किए थे। इन विशेषाधिकारों के तहत प्रमुख व्यापारियों को कर रियायत संग उनकी सम्पति को जब्ती नियम, व्यापारी की मृत्यु बाद उसकी सम्पति पर राज्य द्वारा नियन्त्रण स्थापित कर लेना से भी मुक्ति प्रदान की थी। अन्त में कहा जा सकता है कि, जैन व्यापारियों ने मुगल राज्य की आर्थिक समृद्धता में बाजारों और बंदरगाहों के विकास द्वारा सुदृढ़ता प्रदान की थी। जैन व्यापारियों ने धर्म और समाज दोनों में अगुवा भूमिका निभाकर इतिहास के पन्नों पर अपनी कहानी को सुनहरे अक्षरों में लिखवाया है। इन जैन व्यापारियों के बिना इतिहास व्यापार, बाजार और कटरा इमारतों से विहीन होता तथा मुगल शासन भी कभी आर्थिक समृद्धता और व्यापारिक विस्तार योजना की सफल कहानी को बयाँ नही कर पाता। खड़गसेन, बनारसीदास, हीरानंद मुकानी, शांतिदास झावेरी, वीरजी वोरा, चन्दू सिंघवी, नानू गोधा और थाहरू शाह आदि व्यापारियों ने अपनी बिणज भूमिका द्वारा संघ पर अधिकार जमाकर अनेक स्थानों पर बाजारों की स्थापना करके व्यापार-वाणिज्य का विस्तार किया था। जैन व्यापारियों के कारण मुगलों को एक बड़ी मात्रा में राजस्व प्राप्त होता था। इस प्रकार जैन व्यापारी मुगल अर्थव्यवस्था की स्तम्भ थे, क्योंकि इन्हीं के कारण आगरा, पटना, ढाका, मुर्शिदाबाद, भड़ौच, कैम्बें आदि स्थानों के बाजारों और बंदरगाहों का विकास संभव हो पाया था। दूसरा, जैन व्यापारियों के कारण ही शहरों की धारणा को बल मिला था, क्योंकि जैन शहरों में बाजार, विलासिता और उत्सव आयोजनों द्वारा अपनी पैठ संग लोगों में शहरों की लोक-लुभावन छवि ईजाद करते थे।

सहायक ग्रंथ–

1. Monika Sharma, Social Life and Cultural Practice Among the Merchant Group in Mughal Gujrat, (Ph.D. in AMU, 2013, Unpublished), pp. 49-56. **2.** Syed Ali Nadeem Rezavi, Merchant Life in Mughal India, (PIHC, Vol. 65, 2004), pp. 277-303. **3.** John E Cort, Jains, Caste and Hierarchy in North India in Caste in Question Identity and Hierarchy Edt by Dipankar Gupta, (New Delhi: Sage Publication, 2004), pp. 73-112. **4.** Makrand Mehta, Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, (Delhi: Academic Foundation, 1991), pp. 23-40. **5.** Helan B Lamb, The Indian Merchant, (Journal of American Folklore, Vol. 71, No. 281, 1958), pp. 231-40. **6.** नीना जैन, मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति पर जैन संतों का प्रभाव 1555 से 1658 तक, (मध्यप्रदेश श्री काशीनाथ सराक, आचार्य श्री विजयेन्द्रसूरि शोध संस्थान, 1991), पृष्ठ, 133. **7.** Moh. Abdulla Raza, Trade and Trading Communities of Medieval Agra, (PIHC, Vol. 80, 2019), pp. 530-39. **8.** Shalin Jain, "Pleasant and unpleasant Moments—Life and time of a Jain Mer-

chant in early Modern north India", in Seema Bawa, ed., Locating Pleasure in Indian History: Prescribed and Proscribed Desires in Visual and Literary Cultures, New Delhi: Bloomsbury, 2021, pp.131-151. **9.** Shalin Jain, The Merchant and Rulers: The Jain Traders in the Early 17th century Agra, in SZH Jafri and Pratima Asthana, Eds, Trans-Formation in Indian History, (New Delhi: Anamika Publishers and Distributors, 2009), pp. 290-91. **10.** Aditi Jain, The Sacred and the Material, (Social Scientist, Vol. 50, No. 5-6, 2022), 69-86. **11.** Dipti Khera, Marginal Mobile, Multilayered Painted Invitation Letter as Bazars Objects in Early Modern India, (A Journal 18th Century Art and Culture, Issue. 8, 2016), pp. 1-35. **12.** Surender Gopal, Jains inIndia: Historical Essay, p. 52 and M.S Commissariat, History of Gujrat: Including a Survey of its Chief Architectural Monuments and Inscription, Vol- II, p- 140 and Monika Sharma, Mughal – Jain Cordiality: A Case Study of Subah Gujrat in the Reign of Shahjahan (Magazine of Charutar Vidyamandal, November 2013), pp. 41-43. **13.** Monika Sharma, Mughal – Jain Cordiality: A Case Study of Subah Gujrat in the Reign of Shahjahan, pp. 41-43. **14.** Sudev Sheth, Bankrolling Empire, pp. 119-31 and Moh Dilshad, A Study of the Merchants Relationship with the Mughal ruling Class in During 16th-17th Century, in New Horizons in Social Science, Eds by Aftab Anwar sheikh, (IARA Publication, 2023), pp. 1-4. **15.** Monika Sharma, A Temple of Good Fortune: Chintamani, (IOSR-JHSS, Vol. 2, Issue. 2, 2016), pp. 7-10. **16.** Makrand Mehta, Indian Merchants and Entrepreneurs in Historical Perspective, pp. 45-57, Moh Dilshad, A Study of the Merchants Relationship with the Mughal ruling Class in During 16th-17th Century, pp. 1-4 and Monika Sharma, Social Life and Cultural Practice Among the Merchant Group in Mughal Gujrat, p. 150. **17.** Aditi Jain, The Sacred and the Material, 69-86.

C/O. Jaiprakash Bhardwaj
Pocket A, Factory No. 53,
Sector 2, DSIIDC Industrial Area
Bawana,
New Delhi- 110039
Mo. 9599560417

❐❐

अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह की विलुप्तप्राय जनजातियां : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

डॉ. कनिका भनोत

अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह[1] भारत का एक केन्द्र शासित प्रदेश है, जिसकी राजधानी पोर्टब्लेयर है। यह बंगाल की खाड़ी के दक्षिण में हिन्द महासागर में स्थित है।[2] भौगोलिक दृष्टि से यह दक्षिण-पूर्वी एशिया का हिस्सा है और भारत का अभिन्न अंग है। यह इण्डोनेशिया के आचेह के उत्तर में 150 किमी. की दूरी पर स्थित है तथा अण्डमान सागर इसे थाईलैण्ड और म्यांमार से अलग करता है।[3] दो प्रमुख द्वीप समूहों से मिल कर बने इस द्वीप समूह को 10 डिग्री उ. अक्षांश पृथक्क करती है, जिसके उत्तर में अण्डमान द्वीप समूह तथा दक्षिण में निकोबार द्वीप समूह है। मानचित्र में अण्डमान द्वीप समूह को उत्तरी, मध्य तथा दक्षिण अण्डमान में विभक्त दर्शाया गया है। इस द्वीप समूह के पूर्व में अण्डमान सागर और पश्चिम में बंगाल की खाड़ी स्थित है।[4]

यह सामुद्रिक द्वीप समूह 6 और 14 डिग्री उत्तरी अक्षांश तथा 92 और 94 डिग्री पूर्वी देशांतर में स्थित है। यह द्वीप समूह 572 द्वीपों का समूह है। इनमें से मात्र 38 पर ही मानव आबादी है जिनमें से 26 द्वीप अण्डमान में हैं जबकि 12 निकोबार में स्थित हैं।[5] यह द्वीप समूह अपने प्राकृतिक नैसर्गिक सौंदर्य, सामुद्रिक जीवन वैशिष्ट्यों, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों पर हुए निर्मम अत्याचारों और प्रताड़नाओं की केन्द्र रही काला पानी सैल्यूलर जेल, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस द्वारा यहाँ पोर्टब्लेयर में सन् 1943 में सर्वप्रथम तिरंगा फहराए जाने के विकास क्रम आदि वैशिष्ट्यों के कारण तो विश्व स्तर पर चर्चा में रहा ही है, परन्तु इस द्वीप समूह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक वैशिष्ट्य यहाँ आबाद रही कतिपय लुप्त प्रायः होती जा रही जनजातियां हैं, जिनका अपना एक सर्वथा पृथक्क एवं स्वतंत्र सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक वैशिष्ट्यों से युक्त एक ऐसा विरल संसार रहा है, जो अल्पज्ञात किन्तु जनजातीय ऐतिहासिक शोध एवं अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन जनजातियों में से ग्रेट अण्डमानी, ओंगे, जारवा, सेंटीनली नाम की चार जनजातियां निग्रेटो जातियां हैं जबकि निकोबारी तथा शोम्पेन, दो मंगोलायड जातियां हैं।[6] इनमें से निकोबारी को छोड़कर शेष सभी आदिम जनजातियां हैं जिनसे सम्बन्धित अध्ययन एवं शोध ऐतिहासिक ही नहीं, मानव शास्त्रीय अर्थात् एन्थ्रोपोलोजीकल स्टडी की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह जनजातियां और इनसे सम्बन्धित कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार हैं–

(1) ग्रेट अण्डमानीज :

मानव शास्त्रीय अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ग्रेट अण्डमान द्वीप समूह में दस आदिम जनजातियां निवास किया करती थीं। उस समय उनकी अनुमानित संख्या लगभग 7000 थी। उन आदिम जाति समूहों के नाम हैं आका-कारी; आका-कोरा; आकार-बो; आका-जेरू ; आका-केड़े; आका-कोल; ओकु-जुबोई; आका-पुक्किवार; आका-बेले तथा आका-बीअ।

उपनिवेशियों के साथ सम्पर्क में आने के बाद उनके अनेक प्रकार की संक्रामक बीमारियों के शिकार होने की जानकारी मिलती है।[7] सन् 1971 की जनगणना के अनुसार उनमें से मात्र 19 ही शेष बचे, जिन्हें स्ट्रेट द्वीप फिर से बसाया गया। इसके उपरांत ही वे महाविनाश से बच सके। ग्रेट अण्डमान की वही उपर्युक्त दस जनजातियां ग्रेट अण्डमानी के नाम से जानी जाती हैं।[8] सन् 2011 की जनगणना के प्राप्य आंकड़ों में इनकी संख्या 44 रिकॉर्ड की गई है।[9] इस जनगणना में अदर जेनेरिक ट्राइब्स के रूप में 593 ट्राइब्स रिकॉर्ड किए गए हैं [10] जिनमें से अधिसंख्य को ग्रेट अण्डमानी श्रेणी में ही शामिल माना जाता है। ग्रेट अण्डमानीज के स्वयं के रूचिपूर्ण अलंकरण के साथ ही उनके कुछ अलंकरण, चिकित्सकीय, जादुई तथा धार्मिक महत्त्व के हैं जो इनमें विद्यमान रहे आशावादी विश्वास को संकेतित करते हैं।

(2) ओंगे :

यह जनजाति अण्डमान द्वीप समूह के लिटिल अण्डमान द्वीप में रहती है। इस जनजाति को काफी समय से सरकार से संरक्षण प्राप्त है अतः इन्हें राशन से लेकर स्वास्थ्य सेवाएँ तक सब कुछ मिलता है। यह जनजाति आसानी से बाह्य दुनिया के लोगों से संवाद करने की स्थिति में है। पोर्टब्लेयर से लगभग 145 किलोमीटर दूर लिटिल अण्डमान का साउथ-बे और डि-गान्ग-क्री इलफा ओंगियों के लिए सुरक्षित है और यहाँ आम लोगों का आना-जाना सामान्यतः मना है। यहाँ जाने के लिए सरकार से अनुमति लेनी होती है और यह भी आसानी से नहीं मिलती। इस जनजाति के करीब जाने वाले लोग बेहद स्किल्ड होते हैं। इनकी आबादी अब 100 से 150 के बीच रह गई बताई जाती है। 2011 की जनगणना रिपोर्ट में इनकी संख्या 101 रिकॉर्ड की गई थी।[11]

लिटिल अण्डमान में आबाद यह ओंगे, जिन्हें ओंगी भी कहा जाता है, अनेक समूहों में विभाजित हैं। प्रत्येक समूह में कई परिवार हैं। एक समूह के सभी सदस्य एक ही साथ एक 'बेयरा' (सामुदायिक झोंपड़ी) में रहते हैं। एक 'बेयरा' के सभी सदस्यों का एक विशिष्ट नाम होता है और उनकी एक सामाजिक इकाई है। वर्तमान समय में ओंगी दो स्थानों पर बसाए गए हैं– डुआंग क्रीक तथा साउथ-बे। ओंगी पुनर्वास का काम सरकारी प्रयास से ही सम्भव हुआ है।[12]

(3) जारवा :

अण्डमान के घने जंगलात क्षेत्र में रहने वाली यह जनजाति 'रटलैण्ड जरावा' के नाम से भी जानी जाती है चूंकि यह लोग अच्छी संख्या में रटलैण्ड द्वीप पर बसते थे। इन लोगों से बाहरी लोगों का सम्पर्क बहुत कम हुआ है। आखिरी बार इन्हें 1907 में देखा गया। इसके बाद इन्हें ढूंढ़ने की काफी कोशिशें की गईं और इनके इलाकों को छाना गया, लेकिन इनका कोई पता नहीं चला। इसके बाद इन्हें विलुप्त घोषित कर दिया गया। माना जाता है कि इनके विलुप्त होने का कारण कोई बीमारी या संक्रामक रोग रहा होगा। 2011 की जनगणना रिपोर्ट में इनकी संख्या 380 रिपोर्ट की गई है।[13]

सदियों से अण्डमान द्वीप में अपनी अनुपलब्धता के कारण यहाँ के रहस्यों पर पर्दा पड़ा रहा। 19वीं सदी के मध्य में अंग्रेजों द्वारा पोर्टब्लेयर की स्थापना पश्चात् उन्होंने दक्षिण से उत्तरी अण्डमान तक फैली 10 मूल आदिवासी जनजातियों से दोस्ताना सम्बन्ध विस्तार किया जिनमें केवल जारवा लोग ही थे जिन्होंने इनकी हिंसक प्रवृत्ति के चलते इस दोस्ती को नकार दिया। जारवा मध्य अण्डमान द्वीप से दक्षिणी अण्डमान के पश्चिमी तट तक फैले हुए हैं। शिकार, तथा संकलन की प्रवृत्ति

को ये तीर-धनुष के माध्यम से मछली मार कर कार्यान्वित करते हैं। ये केवल अपने चारों ओर उपलब्ध भूमि तथा जलीय संसाधनों पर आश्रित हैं।[14] जारवा जनजातीय आदिवासी लोग जल परिवहन के लिए अनगढ़ किस्म के बेड़ों का प्रयोग करते रहे हैं।[15]

(4) सेंटीनेलीज :

सेंटीनेलीज बहुत लम्बे समय से अन्य दूसरे लोगों से मिलने से बचते रहे हैं। लिटिल अण्डमान द्वीपों से ग्रेट अण्डमान द्वीप समूह में प्रवासित अण्डमान में उपलब्ध नीग्रेटो प्रजाति के अंतिम संवाहक माने जाने वाले ये सेंटीनेलीज पश्चिमी पोर्टब्लेयर के पूर्वी सेंटीनल नामक छोटे द्वीप के एकमात्र निवासी हैं।[16] सेंटीनेलीज आदिवासियों की असल संख्या इस समय कितनी है, इस विषय में निश्चिततापूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि सन् 2011 की जनगणना रिपोर्ट में इनकी संख्या 15 होना रिपोर्ट किया गया है।[17] परन्तु यह माना जाता है कि वर्तमान में इनकी संख्या 50 से 150 के मध्य है। यह वह आदिवासी जनजाति है जिसे बाहरी मेल-मिलाप की दृष्टि से असुरक्षित घोषित किया गया है। यह भारत की अकेली ऐसी जनजाति है जो खतरे में है या फिर उनके पास जाना खतरे को न्यौता देना है।

सन् 2004 में आई सूनामी के समय इण्डियन कोस्ट गार्ड्स ने इस आबादी के पास खाने के पैकेट्स भेजने की कोशिश की थी, लेकिन यहाँ मौजूद आदिवासियों ने उड़ते हुए हेलीकॉप्टर पर भालों और तीरों से हमला कर दिया था। इनसे जुड़ने की गई बार कोशिशें की गईं लेकिन इस जनजाति के लोगों की दृष्टि में आम लोगों से जुड़ना सही नहीं है और ये लोग इनके द्वीप में जाने वाले किसी भी इंसान को मार डालते हैं। गत दिनों एक अमरीकी मिशनरी को इस जनजाति के लोगों के द्वारा मार दिए जाने की खबर काफी सुर्खियों में रही थी। अमरीकी टूरिस्ट जॉन एलन चाऊ गैरकानूनी तरीके से इनके पास गया और उसने इनसे दोस्ती करने की कोशिश की। उसे लगता था कि वह सेंटीनेलीज आदिवासियों को जीसस के बारे में बताएगा और उन्हें ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट करेगा। जॉन ने मछुआरों को 25 हजार रुपए भी दिए ताकि वो गैरकानूनी तरीके से उसे उनके पास तक ले जा सके। मछुआरा थोड़ी दूर पर जाकर रुक गया और वहाँ से जॉन अपनी कयाक के जरिए द्वीप तक पहुँचा। पहले दिन तो वह वापस आ गया, लेकिन दूसरे दिन फिर जॉन ने यही किया और इस बार वह वापस नहीं आया। मछुआरे ने द्वीप पर देखा कि जॉन की लाश को आदिवासी घसीट कर ले जा रहे थे और उन्होंने उसे मिट्टी में दफन कर दिया।

(5) निकोबारी :

निकोबार द्वीप समूह के निवासी आदिवासी जनजातियां उत्पत्ति विषयक संदर्भों में निकोबारी कहलाती है। वास्तव में अलग-अलग द्वीपों में रहने वाले निकोबारी अलग-अलग बोली बोलते हैं और वे अलग-अलग नाम एवं अलग-अलग पहचान रखते हैं। उदाहरण के लिए कार-निकोबार के निवासी 'तारिक' हैं जबकि चौरा के 'समपाई', कचाल, कमोटा और ट्रिंकेट के 'सम इटा' हैं। फिर भी ये लोग पूरी तरह अलग पहचान रखने वाले नहीं हैं। ये लोग अपने क्षेत्र के सामाजिक और सांस्कृतिक समारोहों में आपस में मिलजुल कर हिस्सा लेते हैं। निकोबारियों के लिए विस्तृत परिवार या 'टुहेट' एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समूह है। 'टुहेट' का मुख्य कार्य अपने सदस्यों की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखना है। निकोबारी मुख्य रूप से बागवानी करने वाले, शिकारी, मछुआरे और नाविक हैं। ये लोग वृक्ष के एक तने से बनी नौका के माध्यम से एक द्वीप से दूसरे द्वीप में जाकर वस्तु विनिमय करते रहे हैं। हाल के कुछ वर्षो में औपचारिक शिक्षा इनके लिए वरदान सिद्ध हुई है। बहुत से निकोबारी विभिन्न सरकारी सेवाओं जैसे पुलिस, जहाजरानी, वन, सचिवालय आदि में कार्यरत हैं।[19]

निकोबारियों के बीच कुछ सांस्कृतिक विभिन्नताएं पाई जाती हैं। नावों की संरचनात्मक और तकनीकी बनावट दो द्वीपों में अलग-अलग है। कार-निकोबार के लोगों की अपनी वास्तुकला और बोली है। इनमें से

कुछ लोग परम्परागत धर्म में विश्वास रखते हैं जबकि कुछ ईसाई और मुस्लिम धर्मावलम्बी हैं। चावरा के लोग गृह निर्माण, नौका निर्माण व मिट्टी बर्तन बनाने जैसी कलाओं में सिद्धहस्त हैं। इस द्वीप की अर्थव्यवस्था कला सामग्रियों के व्यापार पर आधारित रही है।[20] सन् 2011 की जनगणना रिपोर्ट में निकोबारियों की कुल संख्या 27168 दर्शायी गई है[21] जो यह संकेत करती है कि अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में विद्यमान रही जनजातियों में यह जनजाति सर्वाधिक संख्या में अस्तित्वमान है। निकोबारीज मोंगोलोयड हैं। इनकी चमड़ी का रंग पीला भूरा है। बाल लम्बे काले हैं। इनकी पलकें छोटी, नाक चपटी, मध्यम से मोटे आकार के होठ और गालों की हड्डियां उभरी हुई हैं। शारीरिक संरचना के मामले में वर्गीकृत मोंगोलोयड के मुकाबले निकोबारी लोग इण्डोनेशियाई और मालेयन से अधिक मेल रखते हैं।[22] निकोबारी कई मामलों में विभिन्न होते हुए भी कई सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक मसलों पर एकरूपता रखते हैं। सभी लोग मत्स्य शिकार, पशुपालन, बागवानी और शिल्पकला से जुड़े हैं। लगभग सभी स्थानों पर इन्हें इनके विश्वास और वंश परम्परा के अनुसार जाना जाता है जिसे 'तुहेत' कहते हैं। एक तुहेत के सदस्य अपने प्राथमिक घरों में या उसके आस-पास ही रहते थे या फिर कभी एक ही गांव के विभिन्न भागों में बिखरे हुए रहते थे।[23]

(6) शोम्पेन :

ग्रेट निकोबार में रहने वाले शोम्पेन जनजातीय आदिवासी आधे बंजारे हैं। ग्रेट निकोबार में इन्हें 'शंपे' अथवा 'शंहप' के नाम से जानते हैं। वे जंगलों और समुद्री तटों पर फलों, वनस्पतियों और शिकार की तलाश में घूमते रहते हैं। शोम्पेन में दो क्षेत्रीय समूह हैं। द्वीप के पश्चिमी तटीय क्षेत्र में रहने वाले शोम्पेन स्वयं को 'कलाय' कहते हैं तथा जो पूर्वी तट के नजदीक हैं वे 'केएट' कहलाते हैं।[24] सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी कुल संख्या 229 रिकॉर्ड की गई है।[25]

निष्कर्षत : यह कहा जा सकता है कि अण्डमान निकोबार द्वीप समूह के द्वीपों में निवास करने वाली ग्रेट अण्डमानी, ओंगे, जारवा तथा सेंटीनेलीज नामक चार निग्रेटो जनजातियाँ तथा निकोबारी और शोम्पेन नामक दो मोंगोलोयड जनजातियां दीर्घकाल से बाह्य संसार के सम्पर्क में आने से बचती रही जनजातियां हैं जिनका एक पृथक संसार है जिसका अध्ययन एवं शोध न केवल विशिष्ट है वरन् अपने आप में असमानांतर महत्त्व रखता है।

संदर्भ :

1. 1 नवम्बर, 1956 को इसे एक केन्द्रशासित प्रदेश गठित किया गया। द्रष्टव्य रिपोर्ट ऑफ दी कमिश्नर फॉर लिंग्युस्टिक माइनोरिटीज 50वीं रिपोर्ट (जुलाई 2012 टू जून 2013), मिनिस्ट्री ऑफ माइनोरिटीज अफेयर्स, अभिगमन तिथि 12 जुलाई, 2017। **2.** व्हैन ब्रिटिश टॉयड विद आइडिया टू अनलीश गुरखाज ऑन सेंटीनेलीज, टाइम्स ऑफ इण्डिया, 29 नवम्बर, 2018। **3.** द्रष्टव्य 1937 दास, एफ.ए.एम.: दी अण्डमान आईलैण्ड, पृ. 36-39, बैंगलोर। **4.** सन् 2011 में हुई जनगणना के अनुसार, यहाँ की जनसंख्या 379944 है, जिसमें 202330 (52.25 प्रतिशत) पुरुष तथा 177614 (46.75 प्रतिशत) महिलाएं हैं। इस द्वीप समूह की मात्र 10 प्रतिशत आबादी ही निकोबार में रहती है। द्रष्टव्य सेन्सस रिपोर्ट ऑफ इण्डिया, 2011। **5.** द्रष्टव्य अण्डमान निकोबार द्वीप समूह के लोग, शासकीय प्रकाशन, भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण, अण्डमान-निकोबार क्षेत्रीय केन्द्र, पोर्टब्लेयर, भीतरी मुखपृष्ठ, 2004। **6.** जनजातीय वंशवृक्ष फलक, एन्थ्रोपोलोजिकल म्यूजियम, पोर्टब्लेयर। **7.** वही; इनके विनाश का एक कारण अण्डमान द्वीप समूह पर सन् 1859 में हुआ 'एबरडीन का युद्ध' भी माना जाता है जो तीर-धनुष युक्त ग्रेट अण्डमानियों तथा दूसरी ओर बन्दूकों से युक्त ब्रिटिश औपनिवेशिक फौज के मध्य लड़ा गया था जिसमें बड़ी तादाद में ग्रेट अण्डमानी मारे गए थे। देखें- पाण्डे, विश्वजीत फ्रॉम फोटोग्राफी टू इथोनोग्राफी अण्डमानीज डॉक्यूमेंट्स एण्ड डॉक्यूमेंटशन, विजुअल एन्थ्रोपोलोजी (3-4), पृ. 379)। **8.** अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह के लोग, गवर्नमेंट पब्लिकेशन, उपर्युक्त। **9.** वही, पृ. 5। **10.** सेन्सस रिपोर्ट ऑफ इण्डिया, 2011।

11. वही। **12.** अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह के लोग, पूर्वोक्त पृ. 5; 'बेयरा' नामक विशाल सामुदायिक झोंपड़ी का चित्र फलक, एन्थ्रोपोजीकल म्यूजियम, पोर्टब्लेयर। **13.** सेन्सस रिपोर्ट ऑफ इण्डिया, 2011। **14.** अण्डमान निकोबार द्वीप समूह के लोग, पूर्वोक्त पृ. 7। **15.** द्रष्टव्य जारवा आदिवासियों द्वारा प्रयुक्त बेड़ों के चित्रफलक, एन्थ्रोपोलोजीकल म्यूजियम, पोर्टब्लेयर। **16.** अण्डमान द्वीप समूह के लोग, पूर्वोक्त, पृ. 6-8। **17.** सेन्सस रिपोर्ट ऑफ इण्डिया, 2011। **18.** निकोबारी दीर्घा के चित्रफलक, एन्थ्रोपोलोजीकल म्यूजियम, पोर्टब्लेयर। **19.** अण्डमान द्वीप समूह के लोग, पूर्वोक्त पृ. 12-13। **20.** पोर्टब्लेयर निकोबारी दीर्घा में प्रदर्शित कला-सामग्रियां, एन्थ्रोपोलोजीकल म्यूजियम पोर्टब्लेयर। **21.** सेन्सस रिपोर्ट ऑफ इण्डिया, 2011। **22.** मुख्य फलक, निकोबारी दीर्घा, एन्थ्रोपोलोजीकल म्यूजियम, पोर्टब्लेयर। **23.** वही। **24.** अण्डमान द्वीप समूह के लोग, पूर्वोक्त पृ. 14। **25.** सेन्सस रिपोर्ट ऑफ इण्डिया, 2011।

असिस्टैन्ट प्रोफेसर (इतिहास)

एस.एस.जैन सुबोध (ऑटोनोमस) पी.जी. कॉलेज,

रामबाग सर्किल के पास

मो. 9413473244

जयपुर (राजस्थान) 302004

❑❑

प्रतिस्वर

वैचारिकी सितम्बर-अक्टूबर-2025, नवम्बर-दिसम्बर 2025 की प्रति प्राप्त हुई थी, प्राप्ति की सूचना देने में विलम्ब हुआ है। धन्यवाद। प्रकाशित सभी सामग्री उत्तम-पठनीय तथा अनुकरणीय है। 'मनु' मतानुसार वानप्रस्थ सिद्धांत में साफ सफाई इत्यादि के बारे में अच्छा लेख/विचार प्रकाशित है। तीन बार स्नान (प्रातः, मध्याह्न, संध्या) को महत्व दिया है। रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं मोहनदास करमचन्द गांधी विचार पठनीय है। 'संत साहित्य की प्रासंगिकता' 12वीं शताब्दी की विलक्षण सामाजिक क्रांति, वीर शैवमत परम्परा और अक्कमहादेवी आदि उत्तम लेख पठनीय है। मुख पृष्ठ आकर्षक होते हैं। अध्यक्षीय विचार स्तुत्य है। कामायनी, वयं रक्षामः पर सराहनीय विचार है। 'धुरंधर' पर भी आपके मनोकामना स्तुत्य है। उत्तम-उत्तम विचारों से प्रकाशित पत्रिका साधुवाद की पात्र हैं।

-गीता माई-रास, प्रधान सचिव

कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति,

178, चौथा मुख्य रास्ता, 6वां क्रास,

चामराजपेट, बेंगलूर-560018

❑❑

जयपुर की 'जीमण' परंपरा : एक सामाजिक अध्ययन

वन्दना भारद्वाज

जयपुर भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं का एक प्रमुख केन्द्र है, जहाँ सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक व्यवहारों में गहरी निरंतरता परिलक्षित होती है। इस नगर की स्थापना सवाई जयसिंह द्वितीय द्वारा 1727 ईस्वी में की गई, किन्तु इसकी पहचान केवल स्थापत्य या प्रशासनिक दृष्टि तक सीमित नहीं है। यहाँ की जीवंत परंपराएँ, विषेषकर 'जीमण' परंपरा समाज की संरचना और सांस्कृतिक चेतना को समझने का सशक्त माध्यम प्रदान करती हैं। यह सामूहिक भोज की एक ऐसी प्रणाली है, जो सामाजिक समन्वय, सांस्कृतिक संप्रेषण और सामुदायिक संबंधों के पुनर्स्थापन का कार्य करती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि-

'जीमण परंपरा' की मूल प्रेरणा वैदिक काल की 'अतिथि देवो भवः' तथा 'अन्नदान' की परंपराओं से प्राप्त होती है, जिन्हें मध्यकालीन राजपूत शासकों ने एक संगठित स्वरूप प्रदान किया। विवाह, यज्ञ, कथा, त्योहार और अन्य सामाजिक अवसर पर 'सार्वजनिक भोज' आयोजित किया जाता था। जेम्स टॉड ने उल्लेख किया है कि राजपूताना में सामूहिक भोज सामाजिक एकता और सम्मान का महत्त्वपूर्ण माध्यम थे। दरबारों में 'पंगत व्यवस्था' के अंतर्गत सभी व्यक्ति एक पंक्ति में बैठकर भोजन करते थे, जो सामाजिक समानता का प्रतीक था।[1] यह परम्परा धीरे-धीरे लोकजीवन में सामहित हो गई और समाज के विभिन्न वर्गो में प्रचलित हो गई।

पारम्परिक जीमण परंपरा का स्वरूप–

जीमण परंपरा का स्वरूप अत्यंत व्यवस्थित और सांस्कृतिक दृष्टि से अर्थपूर्ण है। इसमें पंगत में बैठना, भोजन का क्रमबद्ध परोसना और अतिथि सत्कार के विषेष नियम शामिल होते हैं। वी.एस. भार्गव के अनुसार, जयपुर की खाद्य परंपराएं उसकी सांस्कृतिक पहचान का अभिन्न अंग है।[2] सार्वजनिक भोज के आयोजन पर शहर के घरों में चूल्हा नहीं जलता था और सड़क पर कनातें गाड़कर जीमण होता था। इस भोज की सूचना ढोल बजाकर दी जाती थी। महाराजा माधोसिंह रोजाना ग्यारह सौ ब्राह्मणों को भोजन करवाते थे। गणेश चतुर्थी के बाद गलता तीर्थ में गोठ होती थी। माधोसिंह हरिद्वार से आते, तब भोज करवाते थे। भोज में पुरसगारी करने वाले दो लांग की धोती, कमरबंधा, कसी हुई अंगरखी, माथे पर पगड़ी और कानों में सोने की मुरकी पहनते थे। सबसे पहले वे चौंगनी (बेसन से चार गुनी चीनी) के लड्डू और बाद में कैरी की लूंजी, दाणामेथी की सब्जी, घोल की नुक्ति और गरम कचोरी रखते थे। घड़े में छेद कर ओक से जल पिलाया जाता था। महिलायें पुरसगारे की धोती को पकड़ कर कहती 'अरे भाया सुणो,

दो लाडू म्हानें भी पुरस द्यो।' जीमने के बाद महिलाएं दो चार लड्डू बच्चों को खिलाने के नाम पर अधिकार पूर्वक ले जाती थीं। अल्बर्ट हॉल की नींव लगाने पर बड़ा जीमण हुआ। माधोसिंह की मृत्यु के बाद पूरे शहर को भोज कराया गया।[3] उन दिनों जीमण में लड्डू, कचोरी और मक्खन बड़ों की महक छायी रहती थी। माधोसिंह के राज में 42 सालों तक जीमण का सिलसिला परवान चढ़ा रहा। महारानी जादौनजी की स्मृति में छह दिन तक सार्वजनिक भोज का आयोजन किया गया था, जिसमें सातों जात के लोगों को गलियों में ढोल बजाकर निमंत्रित किया गया। जलेब चैक, सिटी पैलेस का सरबता, हवामहल व आतिश के मैदान में हुए हजारों लोगों की ज्यौणार हुई।[4]

उन दिनों सम्पन्न लोग बिरादारी और व्यवहारियों को सार्वजनिक भोज में जिमाना प्रतिष्ठा का सूचक मानते थे। जीमण के लिए महाराजा से इजाजत लेनी पड़ती थी। भुजिए, दाणा मेथी की सब्जी, टिपोरे, कचोरी व नुक्ति का रायता आदि तैयार करने में दर्जनों हलवाई दिन-रात लगे रहते थे। चालीस के दशक में निमंत्रण पत्र में जीमने वालों की संख्या भी लिखी जाने लगी, जैसे एक आसामी, दो आसामी, सिगर्यो और चूल्हा उपाड़ न्योता दिया जाता था। सिगर्या में पूरा परिवार और चूल्हा उपाड़ में घर आए मेहमान को भी ले जा सकते थे।[5] जयपुर में जीमण की पूरी प्रक्रिया अत्यन्त सुव्यवस्थित होती थी। भोजन प्रायः खुले चौक, आँगन या विशेष रूप से बनाए गए स्थलों पर तैयार किया जाता था, जहाँ बड़े-बड़े कड़ाहों में शुद्ध घी के व्यंजन बनाये जाते थे। पत्तल और दोने जैसे प्राकृतिक बर्तनों का उपयोग होता था, जो पर्यावरण के अनुकूल थे। जीमण में बैठने की व्यवस्था 'पंगत' के रूप में होती थी, जिसमें सभी लोग एक सीध में, बिना किसी भेदभाव के बैठते थे। यह व्यवस्था जाति, वर्ग और आर्थिक स्थिति के अंतर को कम करने का एक सामाजिक माध्यम भी थी। भोजन परोसने की शैली भी इस परंपरा का महत्त्वपूर्ण भाग थी। भोजन परोसने वाले अत्यंत विनम्रता और आग्रह के साथ बार-बार भोजन परोसते थे, जो सेवा ओर सम्मान की भावना को व्यक्त करता था। आरम्भ में मीठा (हलवा, लापसी, खीर, कलाकंद, मक्खन बड़े, मोतीपाक) फिर पूड़ी, सब्जी, नमकीन और अंत में छाछ परोसी जाती थी।[6]

चित्र संख्या-1 जीमण परंपरा

डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार, यह परंपरा सामूहिक श्रम, सहभागिता और सामाजिक संबंधों के सुदृढ़ीकरण को भी प्रोत्साहित करती है।[7] यह परंपरा सांस्कृतिक निरंतरता को बनाये रखने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। यह परंपरा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती है, जिसके माध्यम से रीति-रिवाज और सांस्कृतिक मूल्य संरक्षित रहते हैं। कपिला वात्स्यायन के अनुसार, भारतीय परंपराएँ अपने व्यावहारिक रूपों के माध्यम से निरंतर पुनरुत्पादित होती रहती हैं।[8]

आधुनिक परिप्रेक्ष्य–

आज भी जीमण परंपरा मूल भावना के साथ जीवित है, भले ही स्वरूप में परिवर्तन आ गए हों। जहाँ पहले लोग पंगत में बैठकर पत्तल पर भोजन करते थे, वहीं आज शहरी क्षेत्रों में बुफे सिस्टम (टेबल-चेयर पर बैठकर खाना) और आधुनिक व्यवस्थाएँ देखने को मिलती हैं, लेकिन अतिथि-सत्कार, सेवाभाव और सामूहिकता की भावना आज भी उतनी ही मजबूत है। विषेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों और पारंपरिक परिवारों में पंगत व्यवस्था अब भी प्रचलित है, जहाँ सभी लोग एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। इसके अलावा आज जीमण की भावना सामाजिक सेवा के नये रूपों जैसे गरीबों को भोजन कराना, लंगर, भंडारा आदि में भी दिखाई देती है।[9]

हाल ही में 110 साल पुरानी परम्परा (वह परम्परा,

जिसके अन्तर्गत राजा-महाराजा द्वारा किसी विशेष अवसर पर जनता के लिए सामूहिक भोजन-ज्योणार का आयोजन किया जाता था।) के अन्तर्गत 13 जुलाई 2025 को ऐतिहासिक 'ज्योणार' (सामूहिक गोठ) का कार्यक्रम, जयपुर की मेयर कुसुम यादव की अगुवाई में, सांगानेरी गेट स्थित अग्रवाल कॉलेज में आयोजित किया गया। जिसमें राजस्थानी पारम्परिक व्यंजन, दाल-बाटी-चूरमा लगभग 50 हजार लोगों को पंगत में परोस कर खिलाया गया। कार्यक्रम संयोजक कैलाश मित्तल के अनुसार 'ज्योणार' के लिए तीन दिन तक लगातार 500 हलवाईयों ने भोजन तैयार किया। पारम्परिक भोजन के लिए 12 हजार 500 किलो आटा-बेसन, 1500 किलो दाल, 1200 किलो मावा, 160 पीपे देसी गाय का घी और अन्य मसाले इस्तेमाल किए गए।[10]

इस प्रकार, आधुनिकता के बावजूद जीमण परंपरा अपने मूल्य समानता, सेवा ओर संस्कृति को बनाए रखते हुए जयपुर की सांस्कृतिक पहचान का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनी हुई है। यह परंपरा न केवल अतीत की विरासत है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी सामाजिक एकता का आधार भी प्रदान करती है। इसके माध्यम से सभी लोग एक जगह पर शामिल होते हैं, आपस में परस्पर मेलजोल होता है, व्यस्त जिन्दगी के बावजूद भी एक दूसरे की कुशलक्षेम पूछ लेते हैं अतः इस तरह की गोठ, जीमण परम्परा तब से लेकर आज तक समाज की एक आवश्यकता है, जो सिर्फ खानपान की शौकीन प्रवृति, परम्परा को ही नहीं दर्शाती अपितु लोगों के बीच समाज में एक सामंजस्य, समरसता को बढ़ावा देती है, जो यहाँ के लोगों में एक सुदृढ़ सम्बन्ध, सामाजिक जीवन में ऐक्य को बढ़ावा देता है एवं सदियों से जयपुर की जीमण परम्परा यहाँ की प्रसिद्ध सांस्कृतिक पहचान भी है।

संदर्भ :

1. टॉड, कर्नल जेम्स. (1920). एनाल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान, भाग-1, लंदन : ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 310-320। **2.** भार्गव, वी एस. (2006) जयपुर : इट्स हिस्ट्री एंड क्लचर, जयपुर : पब्लिकेशन स्कीम, पृ. 202-205। **3.** शेखावत जितेन्द्र सिंह, (2022). म्हारो जयपुर न्यारो जयपुर, जयपुर : पत्रिका प्रकाशन. पृ. 277। **4.** म्हारो जयपुर न्यारो जयपुर, पूर्वोक्त, पृ. पत्रिका प्रकाशन, पृ. 278। **5.** लाभशंकर त्रिवेदी (स्थानीय निवासी) से प्राप्त जानकारी के आधार पर, दिनांक 03.01.2026। **6.** जितेन्द्र कुमार गोयल, (हलवाई, 85 वर्ष) से साक्षात्कार, 21-02-2026। **7.** शर्मा, गोपीनाथ (2010) राजस्थान का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर : पृ. 245-250। **8.** वात्स्यायन, कपिला (2007) ट्रेडीशनल इंडिया कल्चर, नई दिल्ली : इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, पृ. 95। **9.** स्वयं के सर्वेक्षण के आधार पर, दिनांक 03.03.2026। **10.** 'जयपुर की ज्योणार' 12 जुलाई 2025, राजस्थान पत्रिका, पृ.7।

❑❑

निदेशक : डॉ. शिल्पी गुप्ता
विभागाध्यक्ष एवं एसोसिएट प्रोफेसर
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
वनस्थली विद्यापीठ
shilpigupta@banasthali.in
मो. 9414543087

शोधार्थी
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
वनस्थली विद्यापीठ
Vandna.pragati80@gmail.com
मो. 9928008315

भारतीय लघुचित्रों में प्रकृति चित्रण आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में

शगुफ्ता काजी

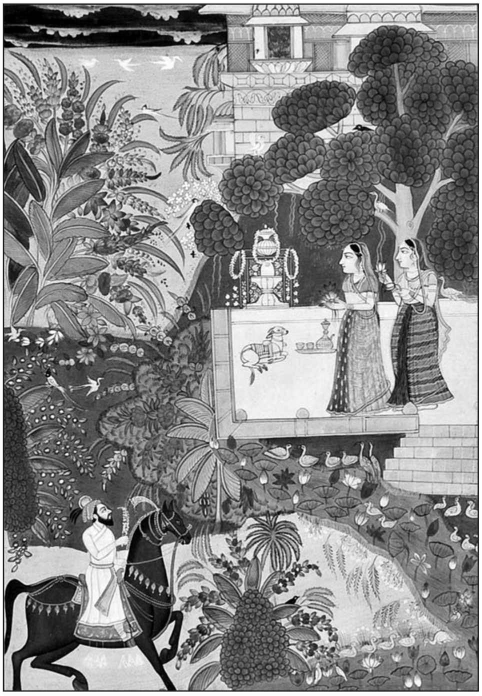

प्रकृति का सम्बन्ध मनुष्य के जन्म के साथ ही रहा है। मनुष्य ने जिस समय प्रकृति की गोद में आँख खोली उस वक्त से ही अपनी मूल भावनाओं को तूलिका द्वारा टेढ़ीमेढ़ी रेखाकृतियों के माध्यम से गुफाओं और चट्टानो की दीवारों पर अंकित कर अभिव्यक्त किया। प्रागैतिहासिक काल में आदिमानव ने अपने आस-पास के वातावरण को अपने भावों को सरलतम रूपों तथा ज्योमितीय आकारों में संजोया है।

प्रकृति के परिवेश में चारों ओर होते रहने वाले परिवर्तनों और सृष्टि के विविध रूपों ने मानव के मन में जो कतूहल और रहस्य भावना उत्पन्न की उसी ने उसे रचना की ओर प्रवृत किया। चित्रकार की यह कुतूहल व अभिव्यक्ति ने चित्रों में सृजनात्मक रूप धारण किया। यह आम धारणा है कि दृश्यांकन एक दृश्य विशेष का चित्रण मात्र है। चित्रकार की अनुभूति को जो कुछ छूले, उसे वह अभिव्यक्ति देकर दृश्य के रूप में प्रस्तुत करता है। लेकिन दृश्य चित्रण बाह्य दृश्यों के अंकन से हटकर एक गम्भीर विद्या इस मायने में है कि यह एक चित्रकार का सम्पूर्ण पर्यावरण से अटूट जुड़ाव अभिव्यक्त करती है। साथ ही उसकी संवेदनात्मक और अंतरंग हलचल का बोध भी करवाती है। सृजन के लिहाज से दृश्य चित्रों का संसार उतना ही विविध है, जितना चारों ओर फैला पर्यावरण और उसके भीतर की रोमांचक अदृश्य हलचल। इसी रोमांचकता तथा कलात्मकता के समावेश ने भारतीय लघुचित्रों के प्रकृति चित्रण में सृजनात्मक का पुट डाला तथा विभिन्न भारतीय लघुचित्रण शैलियों यथा मुगल, राजस्थानी, पहाड़ी शैली के चित्रकारों ने प्रकृति को भिन्न भिन्न रूपों में सृजनात्मकता के साथ चित्रित किया।

भारतीय चित्रण परम्परा में प्राचीन काल से ही प्रकृति चित्रण की स्वस्थ परम्परा रही है, जिसे प्राचीन काव्य के चित्रकला प्रसंगों में देखा जा सकता हैं। रीतिकाल के चित्रों को बारहमासा चित्रण से विशेष प्रेरणा मिली। इस युग के चित्रकारों ने दृश्य चित्रण (लेण्डस्केप पेटिंग) की प्रेरणा इसी युग से ली और आगे चलकर दृश्य चित्रण ने विश्व कला के इतिहास में अपना एक प्रमुख स्थान बनाया। इस प्रकार यदि देखा जाए जो भारतीय चित्र मध्यकाल में ही दृश्य चित्रण में सिद्धहस्त हो गये थे। दृश्य चित्रण की प्रथा अन्य देश के चित्रकारों ने तो बहुत बाद में प्रारम्भ की परन्तु बारहमासा काव्य के समानांतर चित्रण ने भारतीय चित्रकारों को प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की एक नवीन दृष्टि दी। इस संदर्भ में 'श्रावण मास' में हरे भरे वातावरण में नायिका नायक के काम भावों को वर्षा में भीगते हुए रूपों में, बसन्त की मनमोहकता में झूमते हुए स्वरूप आदि उल्लेखनीय हैं। मध्ययुगीन कला में रसों के प्रतिपादन में, चित्रों की पृष्ठभूमि में दृश्य चित्रण (लैण्डस्केप पेटिंग) के माध्यम से नायक नायिकाओं की मनोदशाओं को प्रतीकों के माध्यम से साकार किया गया है। यदि मध्ययुगीन कला की विवेचना की जाय तो पता चलेगा कि आधुनिक दृश्य चित्रण के जो तत्व हैं वे सभी मध्ययुगीन चित्रकला में भी विद्यमान रहे हैं।

भारतीय कला के विकास और उद्भव में, स्पष्ट बात रही है वह है भारतीय कला की गति। समय के साथ हर परिवर्तन को अपने से जोड़ना और गतिशील रहना। इस विशेषता के कारण ही भारतीय कला जीवन्त और विविधता से भरपूर है। दृश्य चित्रण के क्षेत्र में चित्रकारों की समझ एक विस्तृत फलक था और उन्होने बने बनाए ढांचे से हटकर रंगो रेखाओं, आकृतियों आदि के माध्यम से मुक्तरूप से अभिव्यक्ति का रास्ता अख्तियार करने में अपनी दिलचस्पी का परिचय देना शुरू किया।

कला के क्षेत्र में राजस्थान के लघुचित्र विश्व कला की अनमोल धरोहर हैं। राजस्थान में जितनी भी प्रमुख रियासतें थी उन सबकी अपनी अपनी शैली रही है।

राजस्थानी शैली की सभी शाखाओं में 18वीं शताब्दी में विशेष प्रगति तथा परिमार्जन हुआ। उदयपुर, जोधपुर, बिकानेर, कोटा, बूंदी, किशनगढ़ तथा अलवर आदि विभिन्न शैलीयों में जो लघु चित्रों की परम्परा विकसित हुई है उससे न केवल राजस्थान के कलात्मक गौरव को विकसित किया अपितु सम्पुर्ण देश के लिये ये कला की अनुपम देन है। मोहक वातावरण और प्राकृतिक रूप निर्माण इसकी अपनी विशेषता रही है।

राजस्थानी कला में कल्पना की उड़ान देखने को मिलती है। अधिकतर चित्र काल्पनिक हैं जिनमें कलाकार की प्रांजल व्यजंना हुई है। चित्रकला के क्षेत्र में प्रकृति का जितना विराट और वैविध्य-पूर्ण चित्रण राजस्थानी लघु चित्रों में हुआ है, उतना शायद विश्व की अन्य कलाओं में सम्भव नहीं था। कमल पुष्प से ढके सरोवर मेघों से अच्छादित व्योम में सर्पाकार कौंधती चंचला, सघन वन, उपवन में क्रीड़ा करते पशु-पक्षी निकुंजो में प्रेमालाप करते राधा-कृष्ण प्रकृति के अंग प्रत्यंग जान पड़ते हैं। सरोवरों में तैरती नौकाएं, जल

क्रीड़ा करते हुए जलमुर्ग, बतखें, सारस, चहकते मयूर, कोयल, हाथी और शेर, ऊंट, घोड़ों आदि का चित्रण शैली का निजत्व है। प्रकृति के इन विधि रूपों को लघु चित्रों में मोहक रंगो में लयात्मक रेखाओं तथा सरलीकृत आकारों के साथ चित्रित किया गया है। तो कहीं प्रकृति को आलंकारिक रूप में दर्शाया गया है।

भारतीय लघु चित्रों में प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। कलाकारों ने प्रकृति को जड़ से नहीं वरन मानव के सुखः दुखः से रागात्मक सम्बन्ध रखने वाली माना जाता है। चित्र में जो भाव नायक के मन में रहता है उसी के अनुरूप प्रकृति को भी प्रतिबिम्बित किया गया है। इन लघु चित्रों में प्रकृति के प्राकृतिक वातावरण से युक्त राधा-कृष्ण के प्रेम का सुन्दर अंकन हुआ है तथा प्रकृति के विराट परिवेश का बहुरंगी चित्रण हुआ है।

राजस्थानी शैली की विभिन्न उप शैलियों में प्रकृति को विभिन्न रूपों में सुन्दरता से चित्रित किया गया है। मेवाड़ शैली में प्रकृति को आलंकारिक रूप में चित्रित किया गया है। विभिन्न प्रकार के पेड़, पुष्पों से लदे पेड़, पर्वतों के चित्र, जल धाराओं के चित्र आदि सभी आलंकारिक रूप में चित्रित किये गये हैं। पशु पक्षियों का चित्रण बहुत भावुक तथा बहुत सुन्दर है। पशु पक्षियों को कपड़े के बने के बने खिलोने के समान आलंकारिक ढंग से चित्रित किया गया है। पेड़ों को आलंकारिक योजना में बनाने के लिये एक एक पत्ते को स्पष्टता से सफेद रंग से युक्त, हलके हरे रंग से गहरी पृष्ठभुमि पर अंकित किया गया है और उनको आलेखन से सजाया गया है। वृक्षों को अधिकांश झुण्डों में बनाया गया है पत्तों के बीच-बीच पुष्पों के गुच्छे अंकित किये गये हैं। परन्तु मुगल प्रभाव के कारण किसी किसी स्थान पर यथार्थता भी दिखाई पड़ती है। मेवाड़ शैली में रात्रि के दृश्य बहुत रोचक हैं तथा गहरी पृष्ठभुमि में अंकित किये गये हैं। गहरी नीले रंग या गहरी धुएँ के रंग की पृष्ठभूमि में सफेद बिन्दियों को लगाकर तारों भरी रात्रि के दृश्य बनाये गये है। पृथ्वी को ज्यादातर लाल, हरे एवं पीले रंग से चित्रित किया गया है। जल को लहरदार रेखाओं तथा टोकरी बुनने वाले अभिप्रायों से चित्रित किया गया है जो अलंकरण युक्त है। पेड़ों की विभिन्न बनावट पशु-पक्षी, फूल पत्तियों, पहाड़ों व पत्थर का सुन्दर चित्रण हुआ है। सौन्दर्य संयोजन तथा भाव प्रवणता की दृष्टि से मेवाड़ शैली के चित्रों को विभिन्न प्राकृतिक उपादानों से सजाया गया है जो आधुनिक कला की पृष्ठभुमि का काम करती है। मेवाड़ शैली के कलाकारों ने दृश्य की बाह्य यथार्थता को महत्व नहीं दिया वरन उसमें अपनी कल्पना के अनुरूप परिवर्तन करके उसको मनोहर, भावपूर्ण तथा आलंकारिक बनाया है।

जोधपुर शैली में पृष्ठभुमि में आम के वृक्ष बनाए गये हैं। बादलों को गोलाकार विद्युत रेखा के साथ बनाए गया है। प्राकृतिक दृश्यों में काले काले बादल व चमकती बिजलियों का दृश्य, विभिन्न आकारों में बादल अत्यन्त सुरभ्य है। बीकानेर शैली के प्राकृतिक चित्रो में बरसते मेघ, सारस मिथुन का सुन्दर चित्रांकन हुआ है। प्राकृतिक दृश्यों में उमड़ते घुमड़ते बादल, वर्षाकालीन दृश्य, हरित भुमि रेगिस्तानी झाड़ियों पर पुष्प आदि के दृश्य बनाने का श्रेय 'लुफे' को जाता है। वह प्रकृति चित्रण में दक्ष था। इसका 'वर्षा विहार' नामक चित्र बहुत प्रसिद्ध है। विशेष छल्लेदार बादलों का चित्रण, इस शैली में कोमल रंग योजना के द्वारा दृश्य सौन्दर्य को उभारता गया है टीलों को प्रतिकात्मक रूप से अंकित किया गया है।

किशनगढ़ का प्राकृतिक परिवेश, पहाड़, वन, उपवन व सुन्दर झील से वहाँ के कलाकारों को जल क्रीड़ा, नौका विहार, चाँदनी रात के मोहक वातावरण को चित्रित करने की प्रेरणा मिली। प्राकृतिक दृश्यों के मध्य जलाशयों में स्नान करते हुए तथा जल क्रीड़ा करते चित्रण हुआ है। इनमें 'प्रेम की नौका' व 'लाल बजड़ा', सर्वश्रेष्ठ चित्र जिसमें प्रेमियों को बहुत ही सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों में जिवन्त वातावरण के बीच असाधारण सुन्दरता के साथ दर्शाया है। रात्रि के दृश्यों में पीले रंग से प्रकाशित होते दीपकों का चित्रण अतिसुन्दर है। चाँदनी रात के दृश्य बहुत आकर्षक हैं, नौका विहार के दृश्यों में लाल रंग की छोटी-छोटी नौकाएं बनाई गई हैं।

चित्रकार ने प्रकृति को भावुकता से देखा और आलंकारिक योजनाओं को अपनाया है। प्रायः घने वृक्षों के निकुंज, चम्पा चमेली, आम जामुन, कदली-कदम्ब आदि का चित्रण है जिन पर मोर तोता व क्रिड़ारत बन्दर दर्शाये हैं। पानी की लहरों को दर्शाने के लिये चांदी का प्रयोग किया गया है। इस शैली के लघु चित्रों को मोहक एवं प्रभावशाली बनाने के लिये चित्रकारों ने प्रकृति के अन्य उपादानों का अंकन भी सुन्दरता से किया है। दृश्य चित्रों में प्रायः ऊंचे क्षितिज का अंकन है जिससे चित्र में गहराई का आभास होता है। गहरे हरे रंग से घनी तथा दूर तक विस्तृत वनस्पति व काले मिश्रित नीले रंग का आकाश जिसमें पीले रंग के प्रकाश से झिलमिलाते दीपक मोहक वातावरण की सृष्टि करते हैं जो कलाकार की सृजनशीलता का परिचय देता है।

बूंदी शैली का एक सम्पूर्ण 'बारहमासा' है। जिसमें 'चैत्र से लेकर फाल्गुन' मास तक का चित्रण है। जिसमें नायक नायिका को मोहक प्राकृतिक वातावरण में चित्रित किया गया है। दृश्यों में विभिन्न ऋतुओं के चित्रण में वर्षा ऋतु विशेष है। घने जंगलों के दृश्य तथा सघन वनस्पति चित्रण करने में कलाकार ने बहुत रुचि दिखाई है। बूंदी शैली में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में किया गया है, आकाश का वर्णविधान बूंदी कला की विशेषता है। काले, भूरे, नीले बादल अंकित किये गये हैं। काले व नीले रंग मिलाकर पानी दर्शाया गया है। जल की चंचल लहरों को गहरी पृष्ठभुमि पर सफेद रंग से लहरदार रेखाओं के द्वारा बनाया गया है। दृश्य चित्रों में पत्तियों और वृक्षों में गहराई तथा गोलाई लाने के लिये छाया का प्रयोग किया गया है। पशु पक्षियों का चित्रण अलंकार के रूप में किया गया है तथा चित्रों की पृष्ठभुमि में सपाटपन दिखाई देता है। आकाश विभिन्न रंगों से बनाया गया, उसमें लाल रंग की हल्की पट्टी दिखाई गई है। सूर्य उदय बहुत सुन्दर ढंग से सुनहरी रंग से चित्रित किया गया है। बूंदी के लघु चित्रों की रंग योजना लोकरंगों पर आधारित है। पृष्ठभुमि पर लाल, आकाश में बादलों के जमाव हेतु सुनहरे और लहराती वृक्षावालियों के पत्ते गहरे हरे रंग में चित्रित किये गये हैं। आकाश प्रायः पक्षियों से भरा रहता है, नीचे सरोवर तथा वृक्षों पर पशु-पक्षी अंकित किये गये हैं। बूंदी चित्रों में वृक्षों में लाल पीले रंग की रंगत दर्शाई गई है। काव्यमयी कल्पनाओं की सहज उड़ान है, जो उनकी आकृति और प्रकृति को अत्यन्त आकर्षक बना देती है।

कोटा शैली के प्राकृतिक चित्रण के अन्तर्गत लहराते पानी की नदी बादलों व घटाओं से आच्छादित आकाश तथा सुन्दर पेड़ों में कलरव करते पक्षियों के चित्र बेहद लुभावने बने हैं। कलाकारों ने घने सघन वनों के अद्‌भुद दृश्यों को कल्पना का सहारा लेते हुए चित्रित किया है। जिसमें शेर, चीते, हाथी प्रमुख रूप से चित्रित हैं। शिकार के चित्रों में विभिन्न प्रकार के पेड़ पौधों, चट्टाने व पृष्ठभूमि में पहाड़ों का अंकन है।

जयपुर के कलाकारों ने प्रकृति का बखुबी चित्रण किया गया है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों के साथ-साथ पक्षियों की विभिन्न आकृतियों को भी एक सुन्दर आकार देकर बनाया गया है। जयपुर शैली में नीले बादलों में सफेद रूईदार बादल तैरते हुए बनाने की परम्परा रही

है। साथ ही लालिमा लिए हुए बादल भी चित्रित मिलते हैं। कहीं-कहीं रात्रि दृश्यों में सुनहरे रंग से बिजली की चमक भी दर्शायी है। उद्यान चित्र में जयपुरी कलाकारों की दक्षता देखते ही बनती है। छाया प्रकाश बड़ी दक्षता से दर्शाया गया है जो मुगल शैली का प्रभाव प्रतीत होता है। रेखाएं लयात्मक व सुकोमल हैं। इन्ही रेखाओं से आकृतियां लावण्यमयी हो गयी है। इनमें सोने के रंग का सुन्दर प्रयोग किया गया है। राजस्थानी शैली के कलाकारों ने प्रकृति को बाह्य जगह का पूर्ण निर्वाह करते हुए मौलिकता के साथ उतारा है। प्रकृति के हर पहलू को रंग संयोजन व विवध तानों के द्वारा बखूबी चित्रित किया है।

मुगल शैली के कलाकारों ने प्रकृति का चित्रण बड़े मनोहरी ढंग से किया है। दूर दराज पर दर्शीत पर्वत शृंखलायें, ऊंची नीची पथरीली भूमि या घाटियां जिन पर कहीं सूखी झाड़ियां तो कहीं-कहीं बादल या पेड़। प्रायः पृष्ठभूमि सपाट, हल्की, पीली या हरी है। वर्षा की बुँदें हल्के फाख्तई रंग से सीधी पंक्तियों में चित्रित की गई हैं। जल की लहरें चाँदी के रंग से भी चित्रित की गई हैं। मुगल शाहों ने चित्रण के लिये अनेक चित्रकारों को नियुक्त किया। 'मिस्किन' दरबार के एक निपुण पशु-पक्षी चित्रकार थे। 'मंसुर' के द्वारा चित्रित विभिन्न पक्षियों व पुष्पों की आकृतियाँ बड़ी सजीव व सुन्दर है। 'बाज' 'लाल पुष्प' 'तुर्की मुर्गा' 'साज पक्षी' आदि उसके विश्व प्रसिद्ध चित्र हैं। हाथियों के लड़ाई के दृश्य भी बड़े सुन्दर रूप से चित्रित किये गए हैं। मुगल काल में पेड़ पोधें, नदी-पहाड़ आदि प्रकृति का बड़ा भव्य चित्रण है। यदि तीन प्रकार के पेड़ बने हैं तो उनमें भिन्नता अलग दिखाई देती है। इतनी बारीकी से उनके तने व पत्ते बने हैं। जिसमें सेन नदी को पार करते बाबर का प्रमुख चित्र है। अधिकतर प्राकृतिक दृश्य शिकार के समय ही बने हैं। जंगल के दृश्यों में बड़ी स्वभाविकता तथा सौन्दर्य है।

मुगल चित्रों में जल को अकिंत करने के लिए भूरे धरातर पर लहरदार या टेढ़ी रेखाओं से लहरें बनाई जाती हैं या झाग भी दर्शाए जाते थे। मुगल शैली में कम मिलने वाले या अनोखे पशु जैसे जैबरा, हाथी, शेर, गेंडा, मेढा, जिराफ आदि का अंकन मिलता है। पशुओं के चित्रण में यथार्थता और जीवन है। पुष्पों के चित्र में प्राय पुष्पों के ऊपर मंडराते हुए भौरे, तितलियों तथा अन्य कीड़ों आदि को भी अंकित किया गया है। पुष्पों के रंग चमकदार सजीव और सुन्दर हैं और उनका वर्ण विधान तथा रेखांकन अलंकारिक हैं। प्रायः पृष्ठभूमि सपाट, हल्की, पीली, नीली या हरी है। कभी-कभी दूरी पर क्षितिज के पास का दृश्य भी दिखाया गया है।

मुगल चित्रकार ने चाँदनी रात का चित्रण बहुत मनोहारी किया है व प्रकृति को स्वभाविक रूप से चित्रित किया है। पहाड़ बनाने में रेखाओं का अधिक प्रयोग है। उभार तथा गहराई दिखाने के लिए रंगीन रेखाओं का प्रयोग किया है। मुगल कला में प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक दृश्य चित्रित किए गए हैं।

पहाड़ी चित्रकला के विकास में यहां प्राकृतिक छवि तथा सुन्दर वातवरण ने चार चाँद लगा दिये हैं। कांगड़ा एक पहाड़ी स्थान हैं। कलकल करते झरने, हरे जंगल

विभिन्न प्रकार के पेड़-पोधे आदि ने वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता में चार चाँद लगा दिये है। वहाँ का चित्रकार उन्ही में खो गया और अति सुन्दर फूल पहाड़ जल पेड़-पोधे हरियाली आदि का अंकन बहुत सुन्दर रूपों में किया। पहाड़ी शैली में प्रकृति को प्रतीकात्मक रूपों में दर्शाया गया। इन लघु चित्रों में प्राकृतिक चित्रण विषयानुकुल है। पशु-पक्षियों को मानव भावनाओं के अनुकुल चित्रित किया है। वर्षा में बगुला विरह में सारस या मोर, विहर रागिनी में काला हिरण, प्रेमी के संदेश वाहक कौवे, व बतखों के जोड़ों का सुन्दर अंकन है। पहाड़ी लघु चित्रों का अनुपम तल विभाजन भी अद्‌भुत मोलिकता प्रदान करता है। वास्तु और पहाड़ों से तल बिन्यास की सुन्दरता देखते हुऐ बनती है। विभिन्न प्रकार की लताएं संयोग के प्रतीक के रूप में दर्शायी गई हैं। पृष्ठभुमि में सुन्दर पहाड़ों के दृश्य बड़े आकर्षक बनाये गये हैं। कलकल करते झरने व जल का चित्रण बड़ी सावधानी से किया गया है। काली रात या चाँदनी रात, शरद ऋतु का वातावरण, सावन में आकाश में छाये बादल चमकती हुई बिजली वर्षा का चित्रण बहुत मनोहरी रूपों में किया गया है।

कांगड़ा शैली में कलकल करते झरने हरे जंगल फूल, पहाड़ तथा विभिन्न प्रकार की लतायें संयोग के प्रतीक के रूप में दर्शायी गई है। वर्षा ऋतु में मोर का बोलना यथार्थता पैदा करता है। कांगड़ा शैली में महीन रेखाओं द्वारा आकृतियों में लय व छंद पैदा किया गया है। कांगड़ा शैली में प्रकृति चित्रण प्रतीकात्मक रूप से किया गया है। पशु-पक्षी, फलदार पेड़-पौधे सभी किसी न किसी भाव के प्रतीक हैं। ये अधिकतर श्रृंगार के विभिन्न पहलुओं को प्रतीकात्मक रूप में परिलक्षित करते हैं।

बसौहली के लघुचित्रों की रंग योजना बहुत आकर्षक है। लाल और पीला रंग बरसात का द्योतक है। रंगों का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप में हुआ है। सूर्य का प्रकाश पीले रंग से दिखाया गया है। बसौहली शैली में वर्षा बादलों व बिजली का बहुत ही सजीव अंकन हुआ है। 'रसमंजरी' में बादलों का सुन्दर चित्रण है जिनमें से सुनहरे रंग की बिजली नागिन की तरह चमकती हुई दिखाई देती है। हल्की व भारी वर्षा को भी छोटी बुन्दकियों और सीधी रेखाओं से दिखाया गया है। जल का चित्रण बहुत हुआ है। किनारे पर कमल पुष्प तथा कहीं-कहीं बगुले चित्रित किये गये हैं। बसौहली के चित्रों में ऊंचा क्षितिज बनाया गया है जो कि ऊपर की ओर एक पट्टी के आकार का है। इस छोटे से पट्टीनुमा क्षितिज में ही रात्रि व दिन का चित्रण तारे तथा बादल आदि से किया गया है। गहरे नीले आकाश में सफेद बादल बनाये गये हैं। बसौहली के चित्र लोककला से परिपूर्ण हैं। पेड़-पौधे के अलंकरण व मानवाकृतियों में लोककला का प्रभाव दिखाई देता है। वास्तविक प्रकृति को अलंकृत करके चित्रित किया गया है। चम्बा में प्रकृति चित्र बड़ा भव्य हुआ है। कदली के वृक्षों का भवनों के पार्श्व में बहुत सुन्दर चित्रण है। गढ़वाल शैली में प्रकृति को मनोहरी रूप में दर्शाया गया है जिसमें नदी, पहाड़ तथा वृक्ष में गतिमयता परिलक्षित होती है। पहाड़ी कांगडा शैली का एक प्रमुख चित्र 'कृष्ण व गोपियां-वर्षा से बचते हुए' को देखें तो चित्र के सबसे ऊपर में घने काले बादलों को बनाया है। जिसके उपरान्त घने वृक्षों की टहनियों पर विभिन्न पक्षियों को बैठे हुए अंकन किया है। गहरी पृष्ठभुमि पर सफेद पक्षी मोती की भाँति चमक रहे हैं। चित्र की अग्रभूमि में गहरी घास एवं गायों का अंकन स्वभाविक है। सबसे आगे कमल पुष्पों सहित जल का अंकन दृश्य को सुन्दरता प्रदान करता है।

निष्कर्ष :- भारतीय लघुचित्रण की सभी शैलियों को यदि ध्यानपुर्वक देखा जाए तो इन लघुचित्रों में भी प्रकृति के चित्रण में आजकल के आधुनिक चित्रों के बीज पाये जाते हैं। जैसेः- बूँदी शैली के कलाकार ने आकाश में बादलों को लाल रंग तथा सुनहरे रंगों से तथा इन्द्र धनुषी रंगों के साथ चित्रित किया वहीं बीकानेर शैली में छल्लेदार बादलों को कोमल रंग योजना के साथ दर्शाया गया है तथा जयपुर शैली में नीले आकाश में सफेद रूई के समान बादलों को सृजित किया गया है। इसी प्रकार प्रकृति को कहीं सरलीकृत रूप में तो कहीं अत्यधिक अलंकृत रूपों में, कहीं छाया प्रकाश

से युक्त तो कहीं सपाट रंगों में चित्रित किया है।

भारतीय विभिन्न लघु चित्र शैलियों मुगल राजस्थानी यथा मेवाड़, मारवाड़, हाड़ौती, ढुंढाड़, पहाड़ी आदि के रूपगत अमूर्तता के साथ साथ रंगों और प्रकृति के सरलीकृत अभिप्रायों में भी सृजनात्मकता देखी जा सकती है जिससे प्रेरणा पाकर अनेक आधुनिक युग के चित्रकारों ने चित्रण कार्य किया जिनमें फूलचंद वर्मा, समन्दर सिंह खंगारोत, नाथुलाल वर्मा, कन्हैयालाल वर्मा, लालचंद मारोठिया, ललित शर्मा आदि के नाम प्रमुख हैं। जिन्होंने भारतीय लघुचित्रण शैलियों से प्रेरित होकर आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में चित्रण कार्य किया। कैलाश चंद शर्मा, जैन लघुचित्रों के जादुगर के रूप में प्रसिद्ध हैं। फूलचंद वर्मा ने लघुचित्र परम्परा में पशु-पक्षियों फूलों से लेकर प्रकृति तक को बहुत ही सुन्दर आधुनिक रूपों में चित्रित किया है। नाथु लाल वर्मा ने लघु चित्र परम्परा में आधुनिकता को जोड़ते हुए चित्रण किया है। इसी प्रकार समंदर सिंह खांगारोत ने बादलों को बीकानेर शैली की भाँति छल्लेदार व घुमावदार रूपों में चित्रित किया है तथा पानी को लहरदार रेखाओं में चित्रित किया है। ललित शर्मा ने परम्परागत शैली के साथ आधुनिक कला प्रवृत्तियों का समावेश कर रूप रंग अन्तराल और तकनीक के स्तर पर मनमाने सृजनात्मक प्रयोग कर एक नवीन शैली विकसित की।

देशज संस्कृतियों को अपनाते हुए आधुनिकता के संदर्भ में सृजन करना इन चित्रकारों का उद्देश्य रहा है। इनकी शैली में लघुचित्र नवीन रूपों में उभरकर सामने आए हैं। अतः जिस प्रकार लघुचित्र शैलियों में प्रकृति को विविध रूपों में दर्शाया गया है, आधुनिक कलाकार उससे प्रेरित होते हुए, अपनी कला में नवीनता का समावेश किया तथा अपनी समस्त भावनात्मक सोच, कलात्मक अध्ययन और मानव प्रकृति के मध्य सम्बन्ध को बड़े सुन्दर सृजनात्मक रूप से चित्रित किया। आकृतियों और रंग प्रयोग अत्यधिक सरलीकृत और भिन्नता लिये हैं। इसी कारण शैलियों की कलात्मक अभिव्यक्ति स्पष्ट व मोहक रूपों में उभर कर आई है। समय के साथ हर परिवर्तन को अपने से जोड़ना और गतिशील रहना ही जैसी विशेषताओं के कारण ही भारतीय लघु चित्र कला जीवन्त और विविधता से भरपुर है तथा इन लघुचित्र शैलियों से प्रेरणा पाकर नयी दिशाओं की खोज कला के क्षेत्र में आरम्भ हुई तथा भारतीय आजादी के बाद आधुनिक कला आन्दोलन ने रफ्तार पकड़ना आरम्भ किया।

सहायक ग्रन्थ :

1. डॉ. अविनाश बहादुर वर्मा, भारतीय चित्रकला का इतिहास : प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 1999। **2.** डॉ. गिर्राज किशोर अग्रवाल, आधुनिक भारतीय चित्रकला संजय पब्लिकेशन आगरा 3, 1999। **3.** चमन किरण, भारतीय चित्रकला का आलोचनात्मक अध्ययन राजहंस पब्लिकेशन मेरठ, अलंकार भाग 33। **4.** डॉ. प्रेमचन्द्र गोस्वामी, आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ : राज. हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर 1995। **5.** डॉ. प्रेमचन्द्र गोस्वामी भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का संक्षिप्त इतिहास पंचशील प्रकाशन जयपुर 2002। **6.** भंवरलाल चौहान, भारतीय चित्रकला एवं मुर्तिकला का वैभव : किरण पब्लिकेशन अजमेर 1996। **7.** र. वि. सांखलकर : यूरोपीय चित्रकला का इतिहास राज. हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर 2001। **8.** र. वि. सांखलकर, आधुनिक चित्रकला का इतिहास राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 1999। **9.** डॉ. रीता प्रताप : भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 2004। **10.** डॉ. आर. के. वशिष्ठ, मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा उदयपुर। **11.** विनोद कुमार आर्य, भारतीय कला की कहानी अंकुर बुक डिपो किशनगढ़। **12.** चुग सविन्द्र सिंह मालाकार, भारतीय चित्रकला राजस्थान ललितकला अकादमी जयपुर 2004। **13.** प्रो. चिन्मय मेहता (सम्पादक), राजस्थान के समसामयिक चित्रकार : राज. ललितकला अकादमी जयपुर। ▫▫

टी.जी.टी. (आर्ट एजुकेशन)
केन्द्रीय विद्यालय आई.एस.ए. माउण्ट आबू
मो. 9461221886
ईमेल- squazi82@gmail.com

मरुभूमि का हस्तशिल्प वैभव

पुष्पा गोस्वामी

हस्तशिल्प मानव जीवन का अभिन्न अंग है। मानवीय जीवन के प्रत्येक पहलू से इसका जुड़ाव दर्शनीय है। मानव जब से तकनीक से रूबरू हुआ है तभी से उसका और हस्तशिल्प का चोली-दामन का साथ हो गया है। मानव-सभ्यता के आरंभ से ही हस्तशिल्प ने उसके जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी आरंभ कर दी थी। मनुष्य के संघर्षशील और कठोर जीवन में हस्तशिल्प उज्ज्वल आभा और गरिमा का प्रवाह बनकर आता है। उसकी भूमिका मानव को सृजन के नए आयाम प्रदान करती है। कल्पनाशीलता की ऊंचाइयों पर पहुंच कर हर बार वह सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् की नई ख्वाहिश के साथ एक नई रचना गढ़ता है। भारतीय हस्तशिल्प आज सम्पूर्ण विश्व को लुभा रहा है। यह निर्यात और बाजार का आकर्षण तो बन ही रहा है, कलाविदों की जिज्ञासा का केंद्र भी बन रहा है। भारतीय हस्तशिल्प तकनीक और वैज्ञानिक ऊहापोह के बीच फंसे विदेशियों को सुखद बयार की तरह प्रसन्नता की अनुभूति देता है। यही कारण है कि पर्यटक कला-बाजारों और ग्रामीण हाटों की गलियों की खाक छानते हैं और कलाविद् इन कलात्मक वस्तुओं की खोज में पर्यटन को नए आयाम दे रहे हैं।

राजस्थान में हस्तशिल्प का इतिहास पाषाण युग से माना जा सकता है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता के अवशेष भी बताते हैं कि राज्य में शिल्प वैभव का इतिहास बहुत प्राचीन है। सिरेमिक उद्योग के कालीबंगा क्षेत्र से प्राप्त बेहतरीन नमूने, दांतों में उंगली दबाने के लिए विवश कर देते हैं। डॉक्टर मोर्टीयर वीलर (इतिहासविद) की राय है कि इंडस वेली के लोगों को तांबे से बनी चीजें उपलब्ध कराने वाले सम्भवतः राजस्थान के शिल्पी ही रहे होंगे। पॉट्री के लाल धरातल पर काले रंग से चित्रकारी किए हुए प्रामाणिक अवशेष बीकानेर क्षेत्र में खुदाई के दौरान प्राप्त हुए हैं जो कि सम्भवतः ईसा युग से भी पूर्व के हैं। ऐतिहासिक खोजों के दौरान प्राप्त यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियां, कांसे और तांबे के पात्र, चूड़ियां, मोती, हथियार, कंघे, श्रृंगारदान, वस्त्र आदि कालीबंगा में एक विकसित और शिल्प वैभव से परिपूर्ण सभ्यता की बानगी देते हैं। इसके बाद के काल में तो हस्तशिल्प का वैभव अपने चरम पर ही था जिसका उल्लेख अनेक मध्यकालीन ग्रंथों और अवशेषों में स्पष्ट परिभाषित होता है। यह शोध का विषय है कि राजस्थान में हस्तशिल्प का वैभव कहां और कितना बिखरा हुआ है जिसे समेट कर दुनिया के सामने लाया जा सकता है।

यह शोध का विषय है कि क्षेत्रवार, संस्कृति के अनुरूप और जाति व समुदाय आधारित हस्तशिल्प का उदय कब से, कैसे और किस रूप में हुआ और वर्तमान में इसका क्या स्वरूप

और सम्भावनाएं हैं। सदियों से हस्तशिल्प परम्परा को कायम रखते हुए स्थानीय शिल्पियों ने किस प्रकार हस्तशिल्प को जीवंत बनाए रखा और समयानुरूप नए प्रयोग करते हुए किस प्रकार इसे पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करते हुए उपयोगिता की दृष्टि से भी गुणवत्ता की नई मिसालें कायम कीं, यह भी अनुसंधान का विषय है। चंदन और धातु पर नक्काशी, चमड़े के वस्त्र, आभूषण, जूते, तोरण, बादले, बॉक्स, आभूषणों में मीना, कुंदन और जड़ाव, गलीचे, फर्नीचर, कपड़ों पर कढ़ाई, कांच का काम, विभिन्न प्रकार के हाथ के ठप्पों की छपाई, कोटा डोरिया जैसी महीन बुनाई, शॉल, ऊनी नमदे सभी तो उपयोगी होने के साथ-साथ कलात्मक दृष्टि से ऊंचाई के नित नए प्रतिमान छूते हैं। यह आवश्यक है कि राज्य के कलात्मक वैभव का आरंभ कहां से हुआ, उसकी पर्येषणा की जाए। इसे साथ ही यह आवश्यक है कि विकास की निरंतर प्रक्रिया में कलात्मक वैभव यात्रा के कौन से पड़ाव रहे, इसकी भी पड़ताल की जाए।

प्राकृतिक संपदाविहीन मरुभूमि के बाशिंदे अकाल और सूखे जैसी भयावह आपदाओं, छितराई हुई आबादी, संसाधनों की कमी और शिक्षा और पेयजल जैसी सामान्य सुविधाओं से वंचित रहने के बावजूद कैसे इस समृद्ध परम्परा को पीढ़ी दर पीढ़ी बनाए रखने में समर्थ हुए यह जानना भी काफी रोचक और चुनौतीपूर्ण होगा। यहां उन हस्तशिल्प विद्याओं का संक्षिप्त परिचय देना भी समीचीन होगा जो राजस्थान को कला क्षेत्र में अत्यन्त समृद्ध बनाती हैं। स्टेंड ग्लास, थेवा, मार्बल पर पच्चीकारी, फड़ और फड़ में मिनिएचर, लाख का काम, सोने की विभिन्न प्रकार की घड़ाई, गलीचे, नमदे, ऊनी वस्त्र, जूतियां, उस्ताकला, कावड़, कठपुतली, मांडणा, गोदना और कांच की कढ़ाई आदि तो केवल राजस्थान की ही विरासत है, जिसे आधुनिक विश्व के कलापारखियों ने सराहा और मान दिया। इनके इतिहास, विकास, निर्माण प्रक्रिया, कच्चे माल, परिष्करण, बाजार, विशेषताओं, कलात्मकता और भविष्य की सम्भावनाओं पर विचार करना आज की अपरिहार्यता है। इनके कलाकारों को भी सामने लाना आवश्यक है। आइए जाने राजस्थान की समृद्ध कलाओं के बारे में–

लघुचित्र पेंटिंग : राजस्थान की लघुचित्र पेंटिंग्स शताब्दियों से प्रसिद्ध रही हैं। सबसे पहले पेंटिंग पेपर पर खड़िया से चित्रित कर की जाती है। फिर पेंटिंग पेपर को पेपर वेट से कांच पर घिसा जाता है। तत्पश्चात पेंसिल से इसकी रूपरेखा बनाई जाती है तथा ब्रश आरेख (लाइनिंग) से उचित आकार दिया जाता है और असली सोना व चांदी सहित अलग-अलग रंगों से पेंटिंग में रंग भरे जाते हैं। तदुपरांत, पेंटिंग कांच पर फिर घिसी जाती है और पेंटिंग में छायाकार्य (शेडिंग) किया जाता है। अंततः मुख सज्जा की जाती है। चित्रकारी के लिए गिलहरी के बाल से बनी ब्रश का प्रयोग किया जाता है और चित्रकला को आकर्षक रूप देने के लिए असली सोने, आइवरी और चांदी के वर्क का प्रयोग किया जाता है।

राजस्थान के रत्न और आभूषण : रत्नाभूषण की दृष्टि से राजस्थान लाजवाब है। यों कहा जाए कि राजस्थान रत्नों की खान है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। राजस्थानी परम्परा में गहनों की अलग ही अहमियत है। शायद ही कोई ऐसा देश होगा जहां गहनों से जाति और व्यक्ति की पहचान हो सकती हो। यहां विधवा, सुहागन और बच्चों के लिए अलग गहने हैं तो ऐसे गहने भी हैं जिनसे आप व्यक्ति की जाति का अनुमान लगा सकते हैं। और विविधता! यह दावा किया जा सकता है कि गहनों में जितनी विविधता आपको राजस्थान में देखने को मिल सकती है, विश्व के किसी कोने में नहीं मिलेगी। विभिन्न अवसरों जैसे जन्म, शोक, विवाह आदि पर अलग प्रकार के गहने पहनने का रिवाज भी केवल राजस्थान की ही परम्परा है।

थेवा, नक्काशी, मीनाकारी, जड़ाई, घड़ाई, कुंदन, मोती का जड़ाव और जाने कितने तरीके हैं जो धातु को आभूषण की सुंदरता में ढ़ालते हैं। सोना, जरी, चांदी, लाख, एल्यूमीनियम, मोती, रत्न, चीढ़, हाथीदांत, शेर के नाखून, सीप, प्लास्टिक और धागां के गहनों की विविधता केवल राजस्थान में ही मिल सकती है और

अब एक नई परम्परा राजस्थान में ही आरंभ हो रही है जबकि झाड़-फानूस, पेंटिंग्स, बर्तन, पंखे और सजावटी सामान भी रत्नों, चांदी, सोने, लाख तथा कुंदन की जड़ाई-घड़ाई के साथ बनाये और निर्यात किये जा रहे हैं। रत्नों की मालाएं और टॉप्स तथा बटन आदि तो हर विदेशी-देशी पर्यटक के आकर्षण और खरीददारी का मुख्य केन्द्र है।

इस परम्परा, थाती और आधुनिक कला के मिले-जुले रूप को विश्व के और देशों के सम्मुख लाकर आभूषण परम्परा के क्षेत्र में राजस्थान के योगदान और उसकी विशिष्टता किसी परिचय की मोहताज नहीं।

थेवा कार्य : सोने की पतली झिल्ली पर अथवा कांच पर मढ़ी चांदी पर निर्मित विभिन्न प्रकार के डिजाइनों के चित्रों को प्रदर्शित करना, थेवा कला की विचित्र व उत्कृष्ट शैली है। सबसे पहले सोने अथवा चांदी को गर्म करके और रोल करके बहुत पतली चादर बना ली जाती है और रसायन का प्रयोग करके इसे कांच पर चिपकाया जाता है। मढ़ी हुई चादर पर डिजाइन की रूपरेखा बनाई जाती है और तत्पश्चात अति सूक्ष्म औजारों से, रूपांकन को उत्कीर्ण करके, खरोंचकर और उत्कीर्णन कर आकृति की नक्काशी की जाती है। तब रूपांकन का अवांछित हिस्सा हटा दिया जाता है ताकि कांच दृष्टिगोचर हो सके। इसके बाद मद को भट्टी में रखकर गर्म करते हैं जिससे कांच पर रखी चादर, कांच पर स्थाई रूप से जम जाती है।

टेराकोटा : टेराकोटा के बरतन काली, लाल और पीली मिट्टी के बने होते हैं जो राजस्थान एवं दिल्ली से लाई जाती है। इकट्ठा करने के पश्चात इनको अच्छी तरह से मिला लिया जाता है और धूप में सुखा दिया जाता है जिससे किसी भी प्रकार की नमी वाष्पित हो जाए। तत्पश्चात गीली मिट्टी में से छोटे-छोटे कंकड़ों को हटाने के लिए महीन छन्नी का प्रयोग किया जाता है। मिट्टी को हाथ से आकृति प्रदान करने के पश्चात छाया में सुखाने के बाद इसे भट्टी में पकाया जाता है।

कलात्मक टेराकोटा की 'प्रशीतित' सुराही अद्‌भुत होती है। इसमें दो सुराहियों को एक सुराही के अंदर डाला जाता है। यानी तीन सुराहियों को मिलाकर एक सुराही बनाई जाती है। बाहरी सुराही पर पौराणिक रणक्षेत्र व अन्य चित्र उकेरे जाते हैं। अंदरूनी सुराही पर साधारण कटिंग की जाती है और सबसे सुंदर वाली सुराही पानी के लिए होती है। सुराही साधारण मिट्टी की बनी हुई है जो गर्म और उमसदार दिनों में भी पानी को ठंडा रखती है।

टेराकोटा आभूषण : अब तो राज्य में प्राचीन सभ्यता की भांति टेराकोटा के आभूषण भी बनने लगे हैं। टेराकोटा आभूषण में कच्चे माल के रूप में काफी मोटी, छिद्रित प्रकार की ढालू चिकनी मिट्टी का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की चिकनी मिट्टी तालाबों की सतह से एकत्रित की जाती है। तत्पश्चात, इस मिट्टी को धूप में सुखाया जाता है। सूखी चिकनी मिट्टी को चूर्णित किया जाता है और पानी से भरे टब में डाल दिया जाता है। इस चिकनी मिट्टी को पानी में अच्छी तरह से मिलाया जाता है और छन्नी से छान लिया जाता है। इस छनी हुई मिट्टी को एकत्रित कर सतह पर बैठने के लिए छोड़ दिया जाता है। कुछ दिनों पश्चात अतिरिक्त जल उड़ेल दिया जाता है। घोल के रूप में चिकनी मिट्टी सुखाने के लिए 'ट्रे' में रख दी जाती है। प्लास्टिक की तरह लगने वाली चिकनी मिट्टी को कुंडली या पतली पट्टियों में बनाने के पश्चात, अपेक्षित आकार एवं आकृतियों की मणिकाओं के रूप में काट लिया जाता है।

इसके बाद मणिकाओं को तराश कर प्राकृतिक रूप से सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है और भट्टी में ८०० डिग्री सेल्सियस पर इन्हें पकाया जाता है। मणिकाओं के रंग व रूप को अंतिम रूप देना, पकाने पर निर्भर करता है। पकाने के पश्चात इन मणिकाओं को पक्के धागे में पिरोकर इनके सिरां को कुंदनों से अलंकृत किया जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा विभिन्न प्रकार के हार, कानों के बुंदे, कंगन, अंगूठियां, बालों के पिनें आदि बनाए जाते हैं।

इंद्रधनुषी रंगों से सजी कोटा डोरिया : डोरिया, मसूरिया, कोटा तापड़िया, मूंगा और टिशू सिल्क जैसे

नामों से मशहूर कोटा को साड़ियों की मांग आज सारे भारत में है। कोटा जिले के कैथून, मांगरोल, सांगोद, बारां, अटरू, मंडाना, अंता, कोटसुआं, सीसंवालों आदि कस्बों में हजारों परिवार इस काम में लगे हैं।

यह परम्परागत कुटीर उद्योग अब बड़े उद्योग के रूप में चल रहा है। फूल पत्तों, बंधेज, एब्स्ट्रेक्ट और चुनरी आदि के सैकड़ों डिजाइनों और इंद्रधनुषी रंगों में सजी इन साड़ियों से महिलाओं की खूबसूरती में चार चांद लगते हैं। बुनाई की कारीगरी का तो जवाब ही नहीं।

कोटा का साड़ी उद्योग करीब 100 वर्ष पुराना है। कोटा के महाराव शत्रुसाल ने मैसूर के चंदेरी नगर के कुछ कारीगरों को बुलाकर कोटा में बसाया था। महमूद मनसूरिया इन कारीगरों में प्रमुख था। कोटा साड़ियों में प्रसिद्ध मसूरिया साड़ी के बारे में कहा जाता है कि वह इसी कारीगर के नाम पर मसूरिया कहलाई। वैसे मैसूर से धागा भी मंगाया जाता था इसलिए भी इसका नाम मसूरिया पड़ा। कहते हैं कि प्रारम्भ में डोरियां सिर्फ पगड़ियों के काम में ही लिया करते थे। बाद में गुणवत्ता के कारण इससे साड़ियां भी बनने लगीं।

अब चूंकि पगड़ियां के दिन लद गए हैं इसलिए पगड़ियों में तो इसका इस्तेमाल होता नहीं। हां, फैशन और गर्मी के दिनों में आरामदेह और आकर्षक लगने के कारण कोटा डोरिया साड़ियां अपनी अलग ही पहचान बनाए हुए हैं। साथ ही अब इसके रेडीमेड कपड़े यथा सूट, शर्ट, कुरते, गाउन, लहंगे, ओढ़ने व दुपट्टे भी बनने लगे हैं।

कोटा डोरिया सूती साड़ी का प्रचलन भी इन दिनों काफी बढ़ गया है। कोटा डोरिया साड़ी को जाल का भाव देते हुए ताने व बाने दोनों में रेशमी और सूती धागे का प्रयोग करते हुए सरल बनाई में बुना जाता है। इस साड़ी को अतिरिक्त रेशमी धागे के बाने, साड़ी के सारे भाग व बॉर्डर पर फूलों के मोटिफ से सजाया जाता है। बॉर्डर को और सुंदर, मुलायम और शहरी रूप-रंग देने के लिए सोने की जरी के स्थान पर रेशमी धागे का प्रयोग किया जाता है।

कचरे से कंचन : जयपुर के सांगानेरी कागज और उससे बनी विभिन्न कलात्मक चीजों के निर्यात में हुई बढ़ोतरी इस बात की प्रतीक है कि विरासत से चली आ रही खादी कागज की हस्तशिल्प कला अब नए रंग रूप में नया आकार ले रही है। इन दिनों सांगानेरी कागज से बनी जिन चीजों का सर्वाधिक निर्यात हो रहा है उसमें पैकिंग बैग्स, गिफ्ट पैक, ग्रीटिंग कार्ड्स, डायरियां, लिफाफे, फोल्डर, डस्टबिन, फाइल कवर, ड्राइंग पेपर, विजिटिंग कार्ड्स आदि शामिल हैं।

इस समय अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, जर्मनी, इंग्लैंड और कनाडा भारतीय हस्त निर्मित कागज के बड़े खरीदारों में से हैं, पश्चिमी यूरोप और अमेरिका में अभी नए बाजार तलाशे जा रहे हैं। आस्ट्रेलिया और जापान इस कागज से बनी चीजों में बेहद रुचि ले रहे हैं। भारत अब न केवल हाथ से बना कागज निर्यात कर रहा है बल्कि तीसरी दुनिया के देशों को इसकी तकनीक के हस्तांतरण के क्षेत्र में भी आगे बातचीत चल रही है। इस समय हाथ से बने कागज और उससे बनी चीजों के प्रति विदेशी खरीददारों में जबरदस्त आकर्षण है। ये कागज इको फ्रेंडली माना जाता है अतः पर्यावरण की दृष्टि से भी लोकप्रियता हासिल कर रहा है।

खादी कपड़ा : बरसों से हर गांव की जरूरत के मुताबिक कपड़ा गांव में ही तैयार होता आया है। हर गांव में जुलाहा जाति के लोग पुराने जमाने में कपड़ा बनाते थे। आज तो दूसरी जाति के लोगों ने भी इस व्यवसाय को अपना लिया है। राजस्थान में अनुमानतः दस लाख से भी अधिक लोग इससे अपनी आजीविका कमा रहे हैं। खेस, धोती, चादरें, साड़ियां, मोटे कपड़े हर घर की जरूरत है। शौकिया तौर पर लोग दरियां, तौलिए, शॉल, कंबल और आसन आदि भी बनाते हैं।

चमड़ा शिल्प : राजस्थान में प्रसिद्ध है चमड़े पर हाथ के औजारों से नक्काशी। कलाकार चमड़े पर नक्काशी व ब्रेंडिंग का कार्य हाथ से करता है। नक्काशी और ब्रेंडिंग के कार्य के पश्चात मुख्यतः दो रंगों अर्थात भूरे और गहरा भूरे रंग को काले रंग में मिलाकर रंगा जाता है। नक्काशी का कार्य कलाकार अपनी कल्पना

से करता है जबकि ब्रेंडिंग एक पारम्परिक प्रक्रिया है। ऊंट की खाल पर सोने की नक्काशी ने भी राजस्थान को विश्व हस्तशिल्प के क्षेत्र में सर्वाधिक उंचाई दी है। इसमें उस्ता जाति का योगदान उल्लेखनीय है।

चंदन की लकड़ी पर नक्काशी : चंदन की लकड़ी पर नक्काशी का कार्य, भारत के कई भागों में व्यापक रूप से किया जाता है। राजस्थान की चंदन की लकड़ी पर नक्काशी में देवी-देवताओं की प्रतिमाएं, पौराणिक प्रतिमाएं तथा ऊंट, घोड़े एवं मोर आदि प्रमुख जानवरों की आकृतियां शामिल होती हैं। लकड़ी को सबसे पहले वांछित आकार में काटा जाता है और तब बहुत ही अच्छे औजारों का प्रयोग करके अति सूक्ष्म डिजाइनों पर सम्यक ध्यान देते हुए डिजायन की सुंदर नक्काशी की जाती है। इस प्रकार इस सुगंधित लकड़ी पर मुक्त हस्त से महाकाव्यों, प्रकृति एवं शिल्पकार अपनी सृजनात्मक कल्पना से दृश्यों की नक्काशी कर सकता है।

पत्थर पर नक्काशी : राजस्थान की पत्थर पर नक्काशी, अपने रू प, शैली व संरचना के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसकी नक्काशी तकनीक एवं शैली, देश के अन्य हिस्सों की मूर्तिकला से भिन्न है। अलंकारिक रूपांकन के कारण यह सृजन के नए आयाम लिए हुए है। यह विशेष तकनीक है जिसमें कलात्मक सूक्ष्मता और मूर्ति की आकर्षक रूपरेखा देने वाले उत्कीर्णन के संयोग से अलंकारिक सजावट की जाती है। इसकी भंगिमा एवं मुद्रा और इसकी तकनीक एवं सामंजस्य परम्परागत मूर्तिकला के अनुरूप होती है और यह देखने वाले को मंत्रमुग्ध कर देती है।

सम्पूर्ण देश के मंदिरों में विभिन्न शैलियों में उपलब्ध समृद्ध एवं सुंदर नक्काशीयुक्त मूर्तिकला को बनाने के लिए नक्काशीकृत आकृतियों के काम के अनुसार औजारों का चयन किया जाता है। पहले चरण में, छोटी चीजेल से पत्थर को खरोंचकर आकृति का कच्चा ढांचा नक्काशा जाता है। तत्पश्चात अति सूक्ष्म औजारों से आकृति के विभिन्न अंग जैसे पंखुड़ी, फूल, शरीर के अंगों की नक्काशी कुशलतापूर्वक की जाती है। सुंदर नक्काशी के लिए कारीगर में सम्पूर्ण एकाग्रता व मस्तिष्क में स्पष्टता आवश्यक होती है। यह हस्तशिल्प विशेष रू प से विशेष रू प से राधा-कृष्ण, रासलीला, प्राकृतिक चित्रण व लोक कथाओं आदि को गढ़ता है। अब तो राजस्थान का पत्थर अपने शिल्प वैभव की बदौलत दुनिया के कोने-कोने में मंगाया जाता है।

चांदी और पीतल पर नक्काशी : यह कार्य राजस्थान की हस्तशिल्प कला का उत्तम रूप है। यह ऐसे अनुभवी एवं उच्च कल्पनाशील शिल्पकारों द्वारा किया जाता है, जो अपनी कल्पना को चांदी और पीतल पर रेखांकन अथवा आकृति के रूप में परिवर्तित कर सकें। विभिन्न आकार व आकृति के जटिल डिजायनों को उत्कीर्ण करने के लिए कलम पर लकड़ी की थापी से निरंतर प्रयास किए जाते हैं। तदुपरांत, बाहरी सतह को भरकर पूरा किया जाता है, ताकि अधूरे अथवा अशुद्ध हिस्सों को पूरा किया जा सके या उन्हें सुधारा जा सके। तांबे पर नक्काशी करने के बाद चमकाने हेतु इस पर रंगाई, लाख एवं चांदी की पर्त चढ़ाई जाती है। प्लेट व ड्रिंक सेट में विभिन्न प्रकार की नक्काशी की जाती है, जिसे मरोरी कार्य के नाम से जाना जाता है।

संगमरमर और पत्थर पर नक्काशी : राजस्थान ऐसा राज्य है, जहां ग्रेनाइट, संगमरमर, चिकना पत्थर और बलुआ-पत्थर आदि सभी प्रकार के पत्थर आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। इसके अंतर्गत परेवा नामक चिकना पत्थर भी है, जो डूंगरपुर जिले में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। यहां की स्थानीय आबादी शताब्दियों से इस पत्थर पर नक्काशी करती आई है। डूंगरपुर, अथुना और बांसवाड़ा के विभिन्न मंदिरों में रखी ज्यादातर पुरानी मूर्तियां परेवा पत्थर पर इसी नक्काशी से चित्रित की गई है।

काष्ठ नक्काशी : प्राचीन शिल्प के रूप में काष्ठ नक्काशी का कार्य भारत के कई भागों में किया जाता है। सबसे पहले लकड़ी की पतली पट्टी के टुकड़े को प्लेनर की सहायता से तैयार कर चमकाया जाता है। तत्पश्चात चित्र अंकित किए जाते हैं। इससे पूर्व चित्र स्टेंसिल पेपर पर बनाए जाते हैं। तत्पश्चात चित्र के

बाहरी हिस्से को चिजल की मदद से अलग कर दिया जाता है। इसके पश्चात चित्र को पेनल (लकड़ी की पतली पट्टी) पर उत्कीर्ण किया जाता है।

काष्ठ पच्चीकारी शिल्प : काष्ठ पच्चीकारी के लिए शीशम प्रमुख कच्चा माल है। इस शिल्प में प्रयुक्त अन्य कच्चे माल में पतंगा, जैक, चम्पा, नेल्ली, देवदारू और आबनूस आदि की बहुरंगी लकड़ियां प्रमुख हैं। सबसे पहले बाजार में आसानी से अपेक्षित मोटाई वाले रंगीन लकड़ी के पटरे और सफेद अथवा हाथी दांत के रंगों के प्लास्टिक लाए जाते हैं। तदुपरांत डिजाइन बनाए जाते हैं और आरी (बोसां) से आरेख के अनुसार उसे काटा जाता है। इन खंडों को लकड़ी के टुकड़े पर रख कर खाका बनाया जाता है। रूपरेखा बनाने वाले लकड़ी के पटरे को बाहर निकाल कर अपेक्षित रूपांकन हेतु सरेस अथवा चेंपदार पदार्थ से डिजाइन चिपकाए जाते हैं। आसंजक मिश्रित लकड़ी का बुरादा कोष्ठ भरने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

डिजाइन पूरा करने के लिए तेज औजार से सूक्ष्म चित्रण उत्कीर्ण किया जाता है। परिष्करण करने के बाद उस पर पॉलिश की जाती है। पच्चीकारी के लिए वनस्पतीय, कुंडलित अलंकार एवं भूदृश्य सम्बन्धित डिजाइन अपनाए जाते हैं।

राजस्थान का हस्तशिल्प अद्‌भुत है। यहां के कालकार सदियों से कला को साधना समझ कर जुटे हुए हैं। यहां कई अन्य हस्तशिल्प भी प्रचलित हैं जो समयानुसार कम या अधिक लोकप्रिय होते रहे हैं। परन्तु भूमंडलीकरण ने विश्व को एक छोटे गांव में बदल दिया है इसलिए राज्य के कलात्मक हस्तशिल्प को आधुनिक बाजार और लोकप्रियता का तोहफा मिला है। भविष्य में कई अन्य हस्तशिल्प कलाएं भी लोकप्रियता के नए आयाम छुएंगी और राजस्थान को एक कलात्मक मंच का स्वरूप प्रदान करेंगी।

Pushpa Goswami
+91-9314517236 (Call/Whatsapp)
Retd. Dep. Director, DIPR
Writer - Media Specialist

❐❐

(यह लेख प्राप्त होने के बाद पुष्पाजी का निधन हो गया, सश्रद्ध स्मरण – सम्पादक)।

▪ सृष्टि के आदि से प्रकाश देता चला आ रहा है। और प्रलय-पर्यंत पूर्ववत् प्रकाशित रहेगा। इसके प्रकाश में वह अमरत्व है, जिसने सनातन धर्म के मूल का सिंचन किया है। यह जगत कल्याणकारी भारत की अपनी निजी निधि है।

-स्वामी ब्रह्मानन्द

भ्रष्टाचार का दैत्य : कौटिल्य का अंकुश

प्रो. राजेंद्र गर्ग

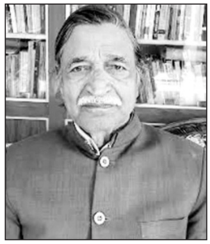

प्राचीन भारत में राजनीति और लोकप्रशासन पर बहुत से ग्रन्थों की रचना की गई, किन्तु इन विषयों पर जैसा विशद चिंतन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पाया जाता है वैसा किसी अन्य पुस्तक में नहीं दिखाई देता। वस्तुतः कौटिल्य समाज से दूर किसी कुटिया में बैठकर तपस्या करने वाले विचारक नहीं थे, उन्होंने अपने जीवन काल में बहुत से साम्राज्यों का उत्थान और पतन देखा था और राजमहलों में चलने वाले सत्ता-संघर्षो और दरबारों में होने वाले षड्यंत्रों का निकट से अध्ययन किया था। कौटिल्य स्वयं नन्द साम्राज्य के विनाश और मौर्य साम्राज्य की स्थापना के सूत्रधार थे। यही नहीं, विशाल मौर्य साम्राज्य की शासन-व्यवस्था के राजधानी से लेकर गांव-गांव तक फैले हुए प्रशासकीय जाल का मुख्य सूत्र भी उन्हीं के हाथों में था। यही कारण है कि उनके 'अर्थशास्त्र' में आदर्शवादी स्वप्नों और काल्पनिक उड़ानों के लिए कोई स्थान नहीं है। यह ग्रंथ यथार्थ की कठोर भूमि पर रचा गया है।

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मा विष्णुगुप्त नाम का एक कुरूप सा ब्राह्मण कुमार ही आगे जाकर कौटिल्य के नाम से विख्यात हुआ। विष्णुगुप्त की ख्याति के दो कारण थे। मगध के राजा महानंद द्वारा अपमानित हो जाने पर इस ब्राह्मण ने संपूर्ण नंदवंश को जड़ से उखाड़ फेंकने की भीषण प्रतिज्ञा की और वर्षो के अथक प्रयासों के बाद वह इस अभियान में सफल भी हुए। वर्षो तक चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की व्यवस्था चलाते रहे। दूसरा कारण था राज्य-व्यवस्था के समस्त अंगों पर विस्तृत विवरण और निर्देश देते हुए महान ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' की रचना करके विष्णुगुप्त ने राजनीति, अर्थनीति, दंडनीति, गुप्तचर व्यवस्था, मंत्रिपरिषद् निर्माण, राजदूत नियुक्ति, राजकोष रक्षा, खनिज विद्या, सैन्य संचालन, विदेशनीति, नगर निर्माण, भूगर्भ विज्ञान, रसायन शास्त्र, दुर्ग व्यवस्था, व्यापार और कर-निर्धारण आदि विषयों पर बहुत ही प्रामाणिक और सर्वकालिक सुझाव दिए।

जिन लोगों ने कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का सिर्फ नाम ही सुना है, वे इसे सम्पत्ति के उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण और राजस्व संबंधी आधुनिक किस्म का अर्थशास्त्र समझ लेते हैं। वस्तुतः कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का विषय है राज्य प्राप्ति और राज्य-संचालन। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में अनेकानेक विषयों के साथ भ्रष्टाचार और राजकीय कर्मचारियों द्वारा की जाने वाली विविध प्रकार की गड़बड़ियों पर भी प्रकाश डाला है। किसी भी जागरू क नीति-निर्माता और राज्य संचालक की पैनी निगाह से कर्मचारियों द्वारा किए गए गोलमाल और घोटाले कैसे छिप सकते थे? भ्रष्टाचार की विभिन्न विधियों पर प्रकाश डालते हुए स्वयं

कौटिल्य कहते हैं–

यथा ह्ना स्वादयितुं न शक्यं जिह्वातलस्थं
मधु वा विषं वा अर्थस्तथा
ह्यार्थचरेण राज्ञः स्वल्पोपि अनास्वादयितुं न शक्यः।[1]

जैसे जीभ पर रखे गए शहद अथवा विष का स्वाद लिए बिना नहीं रहा जा सकता, उसी प्रकार राजा के आर्थिक कार्यो में लगे हुए कर्मचारी राजकीय धन का स्वाद न चखें, यह असंभव है।

मत्स्या यथान्तः सलिले चरंतो ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबंतः
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता ज्ञातुं न शक्याः धनमाददानाः[2]

जिस प्रकार जल में रहने वाली मछलियों को कोई पानी पीते हुए नहीं देख सकता, उसी प्रकार राजा के अर्थ कार्यो में नियुक्त कर्मचारियों द्वारा धन के अपहरण को नहीं देखा जा सकता है।

अपि शक्या गतिर्ज्ञातुं पततां खे पतत्त्रिणाम्।
न तु प्रच्छन्न भावानां युक्तानां चरतां गति ः।।[3]

आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गतिविधि का पता लगाया जा सकता है, किंतु राजकीय धन का अपहरण करने वाले कर्मचारियों की गतिविधि से पार पाना कठिन है।

भ्रष्टाचार की विधियां–

कौटिल्य के मतानुसार किसी राज्य अथवा राष्ट्र के सारे कार्य राजकोष पर निर्भर होते हैं, इसलिए राजा का प्रथम कर्तव्य है राजकोष की रक्षा और वृद्धि करना। कोष वृद्धि के उपाय इस प्रकार हैं– 'राष्ट्र के चरित्र पर ध्यान रखना, चोरों पर निगरानी रखना, राजकीय अधिकारियों को रिश्वत लेने से रोकना, अन्नोत्पादन को प्रोत्साहन देना, जल और स्थल में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक व्यापारिक वस्तु का उत्पादन बढ़ाना, अग्नि आदि के भय से राज्य की रक्षा करना, ठीक समय पर कर वसूल करना, स्वर्ण आदि की भेंट स्वीकार करना इत्यादि।'

सरकारी खजाने को कौटिल्य के अनुसार आठ प्रकार से क्षति पहुंचती है। यही राज कर्मचारियों के भ्रष्टाचार के तरीके हैं। शासक इन तरीकों को पहचाने और इन पर ध्यान रखे :–

1. प्रतिबंध : राज कर (सरकारी टैक्स) को वसूल करके भी उसे समय पर सरकारी खजाने में जमा न कराना, वसूल करके अपने अधिकार में न रखना या वसूल ही न करना।
2. प्रयोग : कोष के पैसे का स्वयं ही लेन-देन करके लाभ कमाना प्रयोग कहलाता है। ऐसे अधिकारी पर धन का दुगुना जुरमाना करना चाहिए।
3. व्यवहार : कोष के धन से व्यापार चलाना। इस मामले में भी दुगुना जुर्माना करना चाहिए।
4. अवस्तार : टैक्स वसूल करने वाला अधिकारी नियत समय पर वसूली न करे और रिश्वत लेने की इच्छा से मियाद खत्म हो जाने का डर दिखाकर प्रजा को तंग करे और अधिक धन वसूल करे। ऐसा करने पर उससे राशि का पांच गुना जुर्माना वसूल किया जाएगा।
5. परिहायण : जो अधिकारी कुप्रबंध के कारण राजकोष के खर्च को बढ़ा दें और आय को कम कर दे वह परिहायण का दोषी है। ऐसा करने पर क्षय की राशि से चार गुना जुर्माना लगाया जाए।
6. उपभोग : सरकारी धन का स्वयं भोग करना और अपने मित्रगण को भोग कराना। कौटिल्य ने यहां विभिन्न पदार्थो के भोग पर विभिन्न दंड व्यवस्था की है। सरकारी रत्नों के भोग पर प्राण दण्ड की व्यवस्था है।
7. परिवर्तन : सरकारी वस्तुओं को बदलकर उनकी जगह घटिया वस्तुएं रख दी जाएं तो परिवर्तन क्षय होता है। इस पर उपभोग क्षय का ही दंड दिया जाए।
8. अपहार : प्राप्त आय को राजकीय रजिस्टर में न चढ़ाना, खर्च नहीं की गई राशि को भी रजिस्टर में खर्च की गई बता देना, प्राप्त नीवी के संबंध में मुकर जाना, तीन प्रकार का अपहार क्षय होता है। ऐसे कर्मचारी को बेईमानी की गई राशि का बारह गुना दंड किया जाए।

कौटिल्य ने सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को कितनी बारीक और सावधान नज़र से देखा है, इसका

अंदाजा उनकी पुस्तक, 'अर्थशास्त्र' का अध्ययन करने पर सहज ही हो सकता है। ऊपर बताए गए आठ प्रकार के राजकोष-क्षय के अलावा भी सरकारी कर्मचारी, कौटिल्य के अनुसार, चालीस प्रकार से राजा और जनता का धन डकार सकते हैं। ये तरीके हैं– 'पहली फसल के लगान को दूसरी फसल आने पर रजिस्टर में चढ़ाना, सरकारी टैक्स को रिश्वत लेकर छोड़ देना, टैक्स से मुक्त वस्तुओं पर टैक्स वसूल कर लेना, टैक्स लेकर भी रजिस्टर में न चढ़ाना, कम प्राप्त हुए धन को रिश्वत लेकर पूरा कर देना, पूरे प्राप्त हुए धन को कम बताकर लिख देना, एक आदमी से प्राप्त धन को दूसरे के नाम से जमा करना, अधिक राशि वसूल कर कम लिख देना, सरकारी खरीददारी में दुकानदार को तत्काल पैसे न चुका कर अलग से एकांत में मिलकर कम पैसे चुकाना, कीमती वस्तु को बदलकर उसकी जगह सस्ती वस्तु रख देना, रिश्वत लेकर बाजार में वस्तुओं की कीमत बढ़ा देना, घटा देना, दो दिन की मजदूरी चुकाकर चार दिन की लिख देना, मजदूरों की संख्या बढ़ाकर लिख देना, गरीबों या ब्राह्मणों की सहायतार्थ बांटी गई राशि में से कुछ स्वयं रख लेना, तोल में कमीबेशी करके धन हरण करना, खरीदे गए घी के बड़े घड़ों की जगह छोटे घड़े रख देना, खानों एवं कारखानों से बहुमूल्य रत्न या स्वर्ण निकाल लेना, न्यायाधीशों द्वारा रिश्वत लेकर न्याय करना, जेल के अधिकारियों द्वारा घूस लेकर अपराधी को छोड़ देना या उसका अपराध कम करके लिख देना आदि।

भ्रष्टाचार पर अंकुश–

कौटिल्य की सूक्ष्मदर्शी आंखों से देखकर यदि सरकार आज अपने कर्मचारियों की निगरानी रखे तो भ्रष्टाचार पर कुछ नियंत्रण हो सकता है। भ्रष्टाचार पर रोक लगाने के लिए कौटिल्य ने कुछ सुझाव दिए, यथा-

1. किसी भ्रष्ट अधिकारी की जांच के लिए राजा द्वारा एक जांच समिति का गठन किया जाए तथा उस विभाग के प्रधान निरीक्षक, कोषाध्यक्ष, लेखक (क्लर्क), कर वसूल करने वाले, कर चुकाने वाले को अलग-अलग बुलाकर उनसे गबन के बारे में पूछताछ की जाए।
2. राजा यह घोषणा करा सकता है कि जनता में से जो भी कर्मचारी के भ्रष्टाचार का शिकार हुआ है अथवा जो भी कर्मचारी के भ्रष्टाचार को जानता है, वह राजदरबार में इसकी सूचना भेजे। यदि कर्मचारी के खिलाफ अनेक शिकायतें हों और उनमें से एक भी सही पाई गई हो तो उस पर सभी शिकायतों का अभियोग लगाया जाए।
3. सूचना देने वाले नागरिक को भ्रष्ट कर्मचारी से वसूली गई राशि का छठा भाग पुरस्कार स्वरूप दिया जाए। यदि सूचना देने वाला सरकारी कर्मचारी हो तो बारहवां भाग पुरस्कार दिया जाए।
4. राजा को जब ऐसे कर्मचारियों का पता चल जाए और उन पर अभियोग सिद्ध हो जाए तो वह उनकी सारी सम्पत्ति छीन ले और उन्हें उच्च पदों से हटाकर बहुत ही निम्न पदों पर नियुक्त कर दे।
5. पदाधिकारियों के भ्रष्ट आचरण की सूचना गुप्तचरों से प्राप्त होती रहनी चाहिए।
6. किसी पदाधिकारी को बहुत दिनों तक एक ही स्थान पर नहीं रखना चाहिए। उसका स्थानान्तरण होते रहना आवश्यक है।
7. भ्रष्टाचार से प्राप्त धन से समृद्ध हुए अधिकारियों की समस्त सम्पत्ति छीनकर उसे राजकीय सेवा से मुक्त कर दिया जाए।
8. भ्रष्ट अधिकारियों के मुंह पर गाय का गोबर और राख मल कर नगर की गलियों में उसके अपराध की घोषणा करते हुए घुमाया जाए। फिर उसके सिर के बाल काटकर पीटते हुए राज्य से बाहर कर दिया जाए।
9. जो अधिकारी रत्न इत्यादि का गबन करे या जेल का अधिकारी किसी संभ्रांत स्त्री से दुराचार करे तो उसे प्राण दंड दिया जाए।

अधिकारियों के चाल-चलन की परीक्षा–

कौटिल्य का निर्देश है कि राजा सभी अधिकारियों के चरित्र पर निगरानी रखे, क्योंकि भला और ईमानदार दिखाई देने वाला व्यक्ति भी उच्च पद पर पहुंचकर उद्दंड

हो सकता है। राजा प्रत्येक अधिकारी के कार्य, वेतन, आमदनी आदि की जानकारी रखे। राजा उन्हें अलग-अलग रखे और मिलने न दे। कोई भी अधिकारी राजाज्ञा के बिना कोई नया कार्य शुरू न करे। कुछ प्राचीन आचार्यों का निर्देश है– 'यदि किसी अधिकारी की आमदनी (वेतन) थोड़ी और खर्च अधिक दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि वह राज्य के धन का अपहरण करता है। यदि जितना वेतन हो उतना ही उसका खर्चा दिखाई दे तो समझना चाहिए कि वह राज्य के धन का गबन या रिश्वत खोरी नहीं करता है।' कौटिल्य ने इसे ठीक नहीं माना है। वे कहते हैं– 'धन का अपहरण करने वाला भी थोड़ा खर्च कर सकता है, अतः गुप्तचरों द्वारा ही इसका ठीक से पता लगाया जाना चाहिए।'

लोककल्याणकारी कार्यो के लिए सदा से ही शासक या सरकार खजाने में से कुछ खर्च करते रहे हैं। कईं बार जनहित में सार्वजनिक निर्माण कार्य कराए जाते हैं, ताकि गरीबों को मजदूरी मिल सके। हर जमाने में ऐसे निर्दयी और बेईमान कर्मचारी मिल जाएंगे जो निर्धनों की मजदूरी में से भी कुछ पैसा बचा लेते हैं। कौटिल्य कहते हैं– 'जो अधिकारी व्यय के निमित्त निर्धारित राशि को मजदूरों का पेट काट कर स्वयं भक्षण कर लेता है, उस अधिकारी को कार्यहानि के मूल्य का तथा मजदूरी के अपहरण का कठोर दंड दिया जाना चाहिए।'

कौटिल्य के युग में भी ऐसे अधिकारी थे, जो अनुचित तरीकों का इस्तेमाल करके बहुत सा धन इकट्ठा कर लेते थे और उसे दूसरे देश में (शत्रु देश में) किसी के पास छिपा देते थे। आजकल विदेशी बैंकों में ऐसे धन को छिपाया जाता है। इस विषय में कौटिल्य के शब्द हैं-- 'जो पदाधिकारी गहरी आमदनी करता है, धन को भूमि में गाड़ता है किसी के पास छिपा कर रखता है, शत्रु देश में भेज कर किसी के पास जमा करता है, गुप्तचर उस अधिकारी के परामर्शदाता, मित्र, नौकर, बंधुबांधव और आय-व्यय का पूरा पता रखें। गुप्तचर उस अधिकारी के घर में सेवक बनकर जासूसी करें। अपराध सिद्ध होने पर ऐसे अधिकारी को मृत्युदण्ड दिया जाए।'[4]

कौटिल्य ने बेईमान व्यापारियों पर राज्य की ओर से नियंत्रण और दंड व्यवस्था पर एक विस्तृत अध्याय अलग से लिखा है। बाजार पर नियंत्रण रखने के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया जाता था जिसे संस्थाध्यक्ष कहा जाता था। संस्थाध्यक्ष के कईं कार्य थे, यथा– वह तराजू, बाट और माप के बरतनों का निरीक्षण करे। बाटों में हल्कापन या भारीपन होने पर व्यापारी को दंडित करे। लकड़ी, लोहा, मणि, रस्सी, चमड़ा, सूत, ऊन आदि की बढ़िया वस्तुओं में घटिया वस्तुओं की मिलावट करने पर कीमत का आठ गुना दंड वसूल किया जाए।

नकली कस्तूरी, कपूर, मोती आदि को असली और परदेशी वस्तु को देशी बताकर बेचने, अच्छे माल की पेटी बताकर रद्दी माल बेचने पर कीमत के अनुसार एक पण से लेकर दो सौ पण तक दंड किया जाए।

व्यापारी मिलकर किसी वस्तु की बिक्री रोक दें और इस प्रकार कीमत बढ़ाकर फिर बेचें तो हर व्यापारी पर एक हजार पण दंड किया जाए। अनाज, तेल, खार, नमक, गंध और औषधियों में कम कीमत की वस्तुएं मिलाकर बेचने वाले पर बारह पण दंड किया जाए। भ्रष्टाचार आज समाज में व्यापक रूप से फैल चुका है। शासन के उच्च शिखरों पर बैठे लोगों से लेकर निचले स्तर के कर्मचारी भी अनुचित तरीकों से राज्य और जनता के पैसे को निगल रहे हैं। ऐसे में कौटिल्य के भ्रष्टाचार निरोधक निर्देश हमारी सहायता कर सकते हैं।

संदर्भ :

1. अर्थशास्त्र 2/10, **2.** अर्थशास्त्र 2/11, **3.** अर्थशास्त्र 2/13, **4.** अर्थशास्त्र 25/9

– 54/08, मानसरोवर,
जयपुर-302020
मो. 9414646696

❐❐

सनातन की पृष्ठभूमि में भागवत धर्म : विशेष संदर्भ राजस्थान

आयोजक : **भारतीय विद्या मंदिर-भारतीय संस्कृति संसद, कोलकाता**

वक्ता : **डॉ. बाबूलाल शर्मा**

भारतीय संस्कृति संसद सभागार, दिनांक 9 फरवरी 2025

संयोजक श्री राममोहन लखोटिया :— अत्यंत हर्ष का विषय है कि आज हमारी संस्थाओं, भारतीय विद्या मंदिर, भारतीय संस्कृति संसद से वर्षों से जुड़े हुए हमारे प्रबुद्ध डॉक्टर बाबूलाल जी शर्मा हमारे बीच हैं। वे सुप्रसिद्ध शोध-पत्रिका वैचारिकी के संपादक हैं। उनका साहित्य, धर्म-दर्शन, इतिहास-पुरातत्त्व के क्षेत्र में गहरा सम्मान है। ये एक उत्कृष्ट वक्ता हैं, हमारे संस्थान के अपने हैं, इसलिए उनकी अधिक प्रशंसा करना उचित नहीं है। उनसे आज के विषय पर वक्तृता हेतु सादर अनुरोध है।

व्याख्याता डॉक्टर बाबू लाल जी शर्मा :- मंचस्थ भाई राज गोपाल जी सुरेका और संयोजक भाई राम मोहन जी, और इसके साथ ही इस सदन में उपस्थित और सबसे पीछे बैठे हुए हमारे संस्था के अध्यक्ष डॉक्टर बिट्ठल दास जी मूंधड़ा, इधर देख रहा हूँ कि भाई राजेंद्र केडिया जी आए हैं, जो कि राजस्थानी कहावतों पर अद्‌भुत कार्य कर रहे हैं, हमारे मित्र पालीवाल जी हैं, डॉक्टर रेशमी हैं, डॉक्टर वसुंधरा जी हैं, और हमारे विजय झुनझुनवाला, गोपाल दास जी चांडक भी यहाँ पर हैं, उनके बीच में डॉक्टर तारा दुगड़ यहाँ पर बैठी हैं और सभागार में उपस्थित सभी सुधीजन!

आदमी के साथ में एक दिक्कत है, जैसे अभी हमको कोई यह पूछ ले कि साहब आप क्या हैं? क्योंकि एक दिक्कत यह है कि आदमी के अलावा भी आपको और कुछ होना बताना जरूरी है, नहीं आदमी तो सभी हैं। अभी जैसे किसी मुस्लिम को कह देंगे कि आप मुस्लिम कैसे हैं, वह एक सेकंड के अंदर एक अल्लाह, पैगम्बर मुहम्मद, कुरान, हदीस के प्रति अपनी आस्था कहकर स्वयं को बता देगा। किसी ईसाई को कहेंगे, पूछेंगे, एक सेकंड में बता देगा —ईसा मसीह, बाइबिल, ओल्ड टेस्टामेंट और न्यू टेस्टामेंट। परंतु हमको यदि कोई पूछ ले तो कम से कम चार घंटे चाहिए बताने में कि हम कौन हैं। खाली हिंदू कहने से काम नहीं होगा। उसमें फिर यह बताना पड़ेगा कि हम तो सनातनी हैं, सिख हैं, बौद्ध हैं, जैन हैं। फिर जो सनातनी हैं, उसके अंदर फिर और क्या हैं, फिर उसके अंदर क्या हैं? यह मैंने थोड़ा विषयांतर से कह दिया है, लेकिन यह मैं हर बार हर जगह बैठता हूँ तो कहता हूँ कि समय आ गया है कि अब आप भी, हम भी यह कहना सीखें कि बस हिन्दू हैं, समझ लीजिए इस बात को। नहीं तो आप विस्तार दे रहे हैं कि साहब संप्रदाय वैष्णव है, शैव है, शाक्त है, फिर वैष्णव में क्या हैं, फिर उसमें भी क्या हैं।

भारतीय धर्म साधना की यह जो विविधता है, इस पर कई बार इसकी आलोचना करते हैं हम, लेकिन यह भी है कि इसकी यह जो विविधता है, यही इसकी सनातनता का रहस्य भी है। क्योंकि विश्व में जितने धर्म हुए हैं, जैसे मध्य एशिया या पश्चिम एशिया, यूरोप में वहाँ पर जो

भी धर्म उत्पन्न हुए हैं, वह सब के सब अपने साथ में मारकाट लेकर पैदा हुए। लेकिन यह हिन्दू ऐसा है जिसे एक धर्म कहते हैं पर जैसा संविधान में लिखा है धर्मनिरपेक्ष, वैसे ही हम हिन्दू धर्म से निरपेक्ष हैं। हमको कोई मतलब नहीं है आप किसी धर्म के हों, हमें मतलब नहीं, सब आदरणीय हैं। यह सनातन का रहस्य है। इसी कारण से हजारों-हजारों वर्ष से यह जो हिन्दू-सनातन धर्म है, जिसके हम सदस्य हैं और कोई कारण नहीं कि हम इस पर गर्व न करें, इसकी विविधता में सबसे बड़ा तत्व है इंसानियत, यह बहुत बड़ी बात है। कोई भी धर्म मानवता से ऊपर नहीं है, लेकिन जो ऐसा कहते हैं कि हमारा धर्म मानवता से भी ऊपर है, लेकिन वह मानवता से ऊपर नहीं है। तो यह जो सनातन परंपरा है, इस सनातन परंपरा में जो विविध विचार हैं, धारणाएँ हैं, जो मान्यताएँ हैं, स्वाभाविक रूप से विकसित हुए और वे सब के सब इसमें समाविष्ट हैं, एक जगह ही हैं। यहाँ पर किसी को किसी से कोई आपत्ति नहीं है, चाहे वह उपासना का विषय हो, चाहे आपके इष्ट का विषय हो, आस्था का विषय हो, किसी को कोई दिक्कत नहीं है। जो ठीक लगे आप करिए, हमको क्या दिक्कत? लेकिन मुसलमान, ईसाई कहते हैं हम ही सही हैं, दूसरे गलत है और उन्हें जीना नहीं चाहिए, वहाँ दिक्कत हैं, यही एक अंतर है उनसे सनातन में। हिन्दू मूलतः देशीय या राष्ट्रीय पहचान है, फिर इसे एक धर्म के रूप में कहा जाने लगा, इसमें स्वतः सहज स्वाभाविक रूप से धार्मिकताएं अस्तित्व में हैं, यही इसकी सनातनता है। इसका कोई प्रवर्तक नहीं है, यह तो सनातन परंपरा है, उसमें बहुत सारे मत-मतांतर हैं, संप्रदाय हैं इसमें कई धर्म हैं अपनी-अपनी निजता के साथ और उनमें से आज हम भागवत धर्म पर चर्चा करना चाह रहे हैं।

सामान्यतः भागवत धर्म कह दिया जाए तो आमतौर से लोग समझेंगे नहीं कि भागवत धर्म से क्या मतलब है। इसलिए मुझे इसमें कहना पड़ेगा कि यह कृष्ण-उपासना है। भागवत धर्म से तात्पर्य हुआ कृष्ण उपासना, अंग्रेजी में कृष्ण कल्ट लिख देते हैं। लेकिन इसकी बात जब हम करेंगे तो यह बात ठीक-ठीक तब समझ में आएगी, जब कि हम इसकी पृष्ठभूमि को समझें कि इसके पीछे क्या परंपरा रही हुई है। उसकी थोड़ी सी चर्चा करना इसलिए आवश्यक है जिससे कि यह विषय अधिक स्पष्ट हो। हमारे यहाँ पर ज्यादातर, जब भी किसी धार्मिकता की बात की जाती है तो उसको वेद से प्रारंभ किया जाता है कि यह वेदों की परंपरा से है, हमारी वैदिक संस्कृति रही है। हालाँकि वेदों के साथ में इतना अन्याय हुआ है और अभी हो रहा है, और हमारे जो ब्राह्मण भाई हैं, कोई बात पूछ लीजिए, कह देते हैं यह तो वेद में लिखा हुआ है, जबकि उनकी चार पीढ़ियों में वेद किसी ने देखा ही नहीं है। वेद में क्या लिखा हुआ है, दुर्भाग्य से हम में से अब कितने प्रतिशत जानते होंगे, कुछ पता नहीं। लेकिन वैदिक परंपरा का जिक्र इसलिए किया जाता है क्योंकि भारतीय धर्म साधना की परंपरा में सबसे ज्यादा व्यवस्थित रूप से जो धार्मिक परंपरा प्रभावशाली हुई, वह वैदिक धर्म की है, जो वेदों से संबंधित है। वैदिक परंपरा में प्राकृतिक देवता थे। ऋषि की बाकायदा उपाधि दी जाती थी जो ऋचा अर्थात श्लोक की रचना करता था, सृष्टि के किसी भी उपादान को लेकर तो उसको ऋषि की उपाधि दी जाती थी। हर किसी को ऋषि नहीं कहा जाता था। इस तरह की ऋचाओं का जो संग्रह है, वह ऋग्वेद है, और उसी से अवांतर तीन और वेद हुए परंतु मूल ऋग्वेद ही है। उसमें न तो मूर्ति पूजा है, न वहाँ पर कोई भी चढ़ावा करना, न टाली घंटे बजाना, यह कुछ नहीं है वहाँ पर। वहाँ पर केवल प्रकृति है और प्रकृति का जो विराट रूप है, जो महान सुंदर रूप है, और जो उसका सौजन्य रूप है, उसका जबरदस्त वर्णन ऋषियों ने किया है। यहाँ पर अपनी संसद में दीर्घतमा नाम से एक उपन्यास है, बहुत अच्छा, दीर्घतमा ऋषि हुए जो अंधे थे, उनको सूर्योदय आदि के अद्‌भुत चित्रण वाली ऋचाओं की रचना करने से ऋषि की उपाधि प्राप्त हुई थी। ऋग्वेद में केवल आराधना थी, जिसे ऋषि या जो वैदिक काल के लोग थे, वह देवताओं को अर्पित करते थे। वे कुछ भी भोजन वगैरह तैयार करते, उसे किसी ऊँचे स्थान पर रख देते थे, बस वह देवता को अर्पण हो जाता। क्योंकि अब प्रकृति को कहाँ अर्पण करें? उसमें आकाश से लेकर पृथ्वी तक के सब देवताओं को अर्पण हो जाता है। इसके बाद में यह आविष्कार हुआ कि अग्नि में आप कोई चीज

डालें, उन्होंने देखा कि उसमें डालते ही वह भस्म हो जाती है। तो ऋषियों को लगा कि देवता ग्रहण कर रहे हैं, जैसे प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण कर रहे हैं। अग्नि में डालकर स्वाहा कह दीजिए और उसके साथ जो हविष्य है, देवता ने ग्रहण कर लिया। तो अग्नि की उपासना प्रारंभ हुई, और जब व्यास जी ने संहिताओं का संपादन किया, तो उन्होंने सर्वप्रथम अग्नि से संबंधित जो ऋचाएँ हैं, उनको ही पहले मंडल में लिया, क्योंकि वे सबसे ज्यादा प्रचलन में थी। इस तरह आकाशीय या द्यौस देवताओं (वरुण, सूर्य आदि) और फिर अंतरिक्ष के देवताओं (इन्द्र, पर्जन्य आदि) तथा पृथ्वी स्थानीय देवताओं को अग्नि के माध्यम से खाद्य पदार्थ, हविष्य अर्पित करने की यज्ञ की परंपरा चली।

यज्ञ-कर्म के समानांतर लोक की आस्थाओं की परंपरा हमारे यहाँ पर बराबर रही, समानांतर ही नहीं बल्कि यह कहा जाना चाहिए कि पहले से। हमारे दक्षिण में यामुनाचार्य हुए हैं, रामानुजाचार्य से पहले, और वे लोक को महत्व देते हैं, पुराण को महत्व देते हैं, वेद को महत्व नहीं देते हैं। जो लोक की परंपरा रही, उसमें बहुत सारी धार्मिकताएं थी। शिव सबसे ज्यादा प्रधान थे, और उनका इतना व्यापक प्रभाव था कि कालांतर में वैदिक ऋषि या ब्राह्मण भी उन्हें पूजने लगे, जिन्होंने ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की और उपनिषदों की रचना की, लेकिन लोक का जो प्रवाह है, उसका मुकाबला वे नहीं कर पाए। अंततः उन्हें समझौता करना पड़ा। इसको आप यह भी समझ सकते हैं कि यह भारतीय देवतावाद की एक रूपरेखा बनने लगी। शिव को महादेव की उपाधि देकर इन वैदिक ब्राह्मणों ने अंगीकार किया। लेकिन उनकी एक समस्या थी। समस्या यह थी कि जो वेद से संस्तुत नहीं हो, वेद में लिखा हुआ नहीं हो, उसको वे स्वीकार नहीं कर पाते थे। उनके लिए यह बड़ी दिक्कत थी। तो उन्होंने क्या किया कि वेद का एक तृतीय श्रेणी का देवता रुद्र है, जो अग्नि का एक रूप है, उससे शिव को संस्तुत (एफिलेटेड) किया कि शिव वैदिक रुद्र है। इसके साथ ही एक बहुत बड़ी घटना हुई हमारे देश में जब एक बहुत बड़ा समन्वय प्रारंभ हुआ और यह जो वर्तमान रूप है सनातन का, उसका प्रारंभ हुआ, उसके केंद्र में हुए शिव, जिनको महादेव कहा गया। हालाँकि ब्राह्मण ग्रंथों में महादेव को या शिव को डरते हुए कहा है कि तुम श्मशान में रहते हो, तस्करों के पति हो, ठगों के पति हो, डाकुओं के पति हो, दुष्ट बदमाशों के साथी हो, ये नाम हैं शिव जी के जो यजुर्वेद की शतरुद्रीय में दिए गए हैं। यह लोक का देवता था, श्मशान में रहता था, जंगल में रहता था, उस देवता को अपनाया, महादेव के रूप में अपनाया। फिर ब्राह्मणों ने उस समय बहुत बड़ा काम यह किया कि लोक में जो विभिन्न धार्मिकताएं थी, उनका समन्वय प्रारंभ किया जिसके केंद्र में शिव थे। शिव कौन से? भभूत रमाए हैं, योगी हैं, चाहे जो खाते हैं, खप्पर में खाते हैं, श्मशान में रहते हैं। ऐसे अकेले रहने वाले जो शिव हैं, उनके साथ में विचित्र समन्वय किया। आप देखेंगे कि उनके साथ में सबसे पहला समन्वय किया गौरी का। विचित्र काम था यह, समन्वय कर्ता ने ध्यान नहीं दिया कि यह तार्किक है कि नहीं है, बस कर दिया। उस शिव के साथ जो अघोरी है उसके साथ दुनिया की सबसे सुंदर जो देवी गौरी है, उनका विवाह करा दिया। उसी समय यक्ष पूजा चली आ रही थी। उस यक्ष के प्रतिनिधि के रूप में गणेश की पूजा प्रचलित थी, उसी समय मरुगन की पूजा थी, अर्थात कार्तिकेय की। इन दोनों को उनका पुत्र बना दिया। अब चूंकि वैदिक लोग अग्नि की पूजा करते थे, इसलिए उनके सामने एक धूना बना दिया अग्नि का। धर्म का स्वरूप बैल था, यह भी हमारे यहाँ पूज्य था, जिसके प्रमाण हमको सिंधु घाटी की सभ्यता में मिलते हैं, उसको उनका वाहन नांदिया बना दिया। इसके साथ ही नाग-पूजा जबरदस्त थी हमारे यहाँ पर। नाग तो बहुत महान लोग थे, जिनको समझते हैं कि वे सर्प हैं, सर्प नहीं, सर्प टोटम (कबिलाई चिह्न) है उनका। नाग तो जाति का नाम है, नागालैंड में अभी भी नाग जाति के लोग हैं। तो सर्प को शिव के गले में लपेट दिया। इसके साथ ही नदियों की उपासना थी, गंगा की जबरदस्त उपासना चल रही थी, उसको उनके सिर में सैट कर दिया। इसके साथ ही चंद्रमा की उपासना थी, उसको सिर पर लगा दिया। भूत-प्रेत, नंदी-भृंगी जैसी लौकिक मान्यताओं को शिव का गण बना दिया। शिव, देवी, गणेश, कार्तिकेय के वाहनों बैल, सिंह, मूषक, मोर आदि का विचित्र समन्वय देखिए आप। इस समन्वय में सारे

विरोधी हैं, एक दूसरे के दुश्मन हैं। बहुत बड़ा एक संदेश हो गया कि परस्पर विरोधी मत-मतांतर किस तरह से रह सकते हैं साथ में। चाहे ब्राह्मणों ने ऐसा समझ के नहीं किया होगा, अपने धार्मिक रोजगार की मजबूरी से किया, जैसे भी किया, लेकिन यह हुआ, इतना विरोधाभासी समन्वय जो कहीं देखने को नहीं मिलता, और यह सारा का सारा समन्वय हुआ। बहुत लंबे समय तक यह शिव उपासना, शैव उपासना चलती रही।

शैव धर्म के पश्चात वासुदेव-नारायणीय धर्म का उत्कर्ष हुआ जिसने बाद में भागवत धर्म अर्थात श्रीकृष्ण उपासना के रूप में विस्तार पाया। पुराणों में राजा पौंड्रक का एक प्रकरण आता है जो अपने आप को वासुदेव कहता था और वह अपने प्राकृत दो हाथों के अलावा दो हाथ और लगाता था। इस बात की उसने घोषणा की कि यह जो कृष्ण है ना, वह वासुदेव नहीं है, वासुदेव मैं हूँ, देखो मेरे चार हाथ हैं। यहाँ से पता चलता है कि ये चार हाथ बाद में श्रीकृष्ण और विष्णु के हो गए, ये चार हाथ वासुदेव के हैं और वह वासुदेव महाबली देवता है जो फिर कृष्ण में अंतर्भुक्त होने लगा था, जो वसुदेव के पुत्र होने से भी वासुदेव कहे जा रहे थे। बाद में कृष्ण का पौंड्रक से संघर्ष हुआ, उसमें वह मारा गया अर्थात वासुदेव तो एक ही रहेगा। इस बीच में एक और बात आपको मैं निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जैन धर्म में त्रिशष्ठी शलाका पुरुष नामक एक संग्रह है जिसमें अलग-अलग युगों में वासुदेव और प्रति-वासुदेव जो हुए हैं, उनकी सूची है। उसमें त्रेता में राम वासुदेव हैं तो प्रति-वासुदेव रावण है फिर द्वापर में कृष्ण वासुदेव हैं, प्रति-वासुदेव कंस है। इस प्रकार से पूरी सूची दे रखी है। इससे पता चल रहा है कि वासुदेव नामक उपाधि बहुत पूज्यता को प्राप्त थी।

महाभारत में वासुदेव की उपासना, नारायण की उपासना है, लेकिन विष्णु का कहीं उल्लेख नहीं है और नहीं ही वहाँ पर कृष्ण की पूज्यता का कोई उल्लेख है। कृष्ण तो उसके एक पात्र हैं खुद, लेकिन उसमें एक जो भगवत गीता है, भीष्म पर्व में, जिसको पंडित अमृतलाल नागर मानते हैं कि वह बाद की शताब्दियों में किसी ने इसमें प्रविष्ट कर दिया, महाभारत में बहुत सा क्षेपक हुआ है, तो वह जो भगवत गीता है, उसमें पहली बार कृष्ण का ब्रह्म के रूप में प्रतिपादन हुआ, यह खास बात थी कि कृष्ण स्वयं ब्रह्म हैं, अवतारी हैं अवतार नहीं। भागवत परंपरा में, कृष्ण उपासना की परंपरा में कृष्ण जो हैं, वह ब्रह्म के रूप में पूज्य हैं, और यहाँ तक है कि उस साक्षात भगवान कृष्ण के भी अवतार हैं।

भागवत धर्म का प्रारंभ हुआ ईसा से 1400 वर्ष पूर्व में। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में, पाणिनि ने अष्टाध्यायी नामक व्याकरण का ग्रंथ लिखा संस्कृत का, उसमें उन्होंने उदाहरण देते हुए कृष्ण और अर्जुन का उल्लेख किया। इसका मतलब यह हुआ कि ये दोनों लोक में प्रिय थे, नहीं तो उदाहरण कैसे देते? इसके बाद में फिर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी सूत्रकाल में फिर पता चलता है कि तक्षशिला की तरफ भागवत धर्म का जबरदस्त उदय हो रहा था, उस समय के बाद से जो परंपरा चली आ रही थी भागवत धर्म की, कृष्ण उपासना की, उस कृष्ण उपासना का जो चौथा बहुत बड़ा पड़ाव है, वह ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में शुंग काल में आया। क्योंकि मौर्य काल तक तो बौद्ध धर्म जबरदस्त छाया हुआ था। शुंग ब्राह्मण थे, ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने मौर्य राजा को मारा जिससे उसका शासन स्थापित हुआ। फिर कण्व वंश का शासन हुआ। यह भी चूंकि ब्राह्मण थे, तो यहाँ से बौद्ध धर्म की जगह, जिसको ब्राह्मण धर्म कहा जा रहा है, उसका उत्कर्ष हुआ। क्योंकि ब्राह्मणों के द्वारा निर्देशित है, इसलिए इसका नाम ब्राह्मण धर्म कह देते हैं, अब इसका नाम सनातन धर्म कहने लग गए हम। तो उस समय सर्वप्रथम, सदियों से जो यज्ञ बंद हो गए थे, उनका शुंग के काल में फिर प्रारंभ हुआ और प्रथम अश्वमेध यज्ञ किया पुष्यमित्र ने। उस समय वेदों का संकलन हुआ, पुराणों का संकलन हुआ, बहुत बड़ा काम इस तरह से हुआ। उसी समय किसी ने अपने समय की महान रचना भगवत गीता को महाभारत ग्रंथ में जोड़ दिया। महाभारत को आप फाइल समझिए, यह हमारे धर्म की एक फाइल है जिसमें पता नहीं कहाँ-कहाँ एंट्री हुई हैं। और यह सब गुप्त काल तक यानी सन 300-500 तक होती रही हैं सारी की सारी, इसके बाद में बंद हुई।

भागवत धर्म का एक नाम सात्वत धर्म है, यदु वंश

की एक बड़ी शाखा है जिसका नाम सात्वत है, सात्वत बहुत प्रभावशाली रहे, उन सात्वतों में वृष्णि और अंधक वंश हुए। अंधक में उग्रसेन, कंस वगैरह हैं और वसुदेव, कृष्ण आदि वृष्णि हैं। सात्वतों ने कृष्ण उपासना का प्रारंभ किया, चूंकि उनका बड़ा उत्कर्ष हुआ तो इसे बड़ा विस्तार दिया उन्होंने। फिर प्रसिद्ध घटना द्वारका के निकट प्रभासपट्टन में हुई जिसमें मदिरा पान कर परस्पर लड़ते हुए बहुत सारे यदुवंशी मारे गए, बलराम और कृष्ण ने भी इह लोक त्याग दिया। शेष रहे यदुवंशियों को अर्जुन हस्तिनापुर लाये, इनमें से कृष्ण के पौत्र वज्र को युधिष्ठिर ने मथुरा का राजा बनाया। वहाँ से कृष्ण उपासना का फिर उत्कर्ष हुआ। वज्र ने अपने दादा श्रीकृष्ण की उपासना को बहुत विस्तार दिया। संयोग से राजनीतिक वर्चस्व भी उनका बहुत जबरदस्त रहा। उसके बाद में यदुवंशियों का भारत के बड़े भूभाग में विस्तार हो गया, फिर पूरे पश्चिमी एशिया में अफगानिस्तान, ईराक, ईरान तक यदुवंशी विस्तृत हो गए। इसीलिए आप ध्यान दीजिए कि इस्लाम में चंद्र पूज्य है क्योंकि यादव चंद्रवंशी हैं। ये सारे के सारे चंद्रवंशी इस्लाम में परिवर्तित हुए।

भागवत धर्म का जो शुंग काल में पता चलता है, तो वहाँ से पुरातात्विक साक्ष्य प्रारंभ होते हैं। शिलालेख हो, कोई मूर्ति हो, कोई खिलौना मिल गया पुराना, मंदिर, स्तंभ आदि यह पुरातत्व है। डॉक्टर भंडारकर, कनिंघम आदि जैसे पुराविदों ने खूब खोजबीन की। मथुरा क्योंकि शूरसेन प्रांत है, कृष्ण शूरसेनी हैं, यदु वंश में शौरसेनी हैं। केंद्र रहा मथुरा, शौरसेन साम्राज्य का। तो भागवत धर्म के साक्ष्य मथुरा में मिलने चाहिए, वहां खुदाई हुई खूब, वहाँ से मूर्तियाँ भी निकलीं, शिलालेख भी मिला। एक प्राचीन शिलालेख एवं गायत्री टीला में बड़ा शिल्प मिला जिसमें एक आदमी अपने सिर पर टोकरी में बच्चे को लिए हुए जा रहा है। यह पहला अंकन वसुदेव और कृष्ण के बाल्यकाल का वहाँ पर मिला, प्रथम शताब्दी ईस्वी का।

भागवत धर्म के विवेचन में विशेष बात है कि कृष्ण उपासना का जो प्राचीनतम उल्लेख है, वह राजस्थान के एक शिलालेख में मिलता है, मथुरा या ब्रजमंडल में नहीं। राजस्थान में चित्तौड़ के पास में घोसुंडी या नगरी नाम से एक जगह है, चित्तौड़गढ़ से 16 किलोमीटर पर है, बहुत ही शांत, बड़ी अच्छी जगह, वहाँ से डॉक्टर भंडारकर को दो शिलालेख प्राप्त हुए। उनमें लिखा है कि सर्वतात ने यहाँ पर संकर्षण और वासुदेव की प्रतीक शिलाएं पूजा हेतु स्थापित की और उनके लिए नारायण वाटक नाम से यह स्थान बनाया। वाटक का मतलब बाड़ा जो पत्थरों से निर्मित घेरा है, आयताकार। प्राचीन काल में मंदिर नहीं बनते थे, खाली घेरा बना देते, बीच में चबूतरा बना देते, उस पर देवता के प्रतीक रूप पत्थर रख देते, उसकी पूजा होती। ईसा से दो शताब्दी पूर्व का यह नारायण वाटक है, यहां हमारा ध्यान प्राचीन नारायणीय धर्म की ओर जाता है जिसके प्रभाव से इस पूजा-स्थल को नारायण वाटक कहा गया है। उक्त दोनों शिलालेख उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

एक बात मन में आ गई, विषयांतर कर कहना चाहता हूं, यहाँ पर अधिकतर सब कोलकाता निवासी राजस्थानी हैं, काफी संख्या में, लेकिन मैं आपको पूछ लूँ कि राजस्थान कहाँ है, कैसा है, बता नहीं पाएँगे आप, क्योंकि आपने कभी ध्यान ही नहीं दिया इस पर। राजस्थान के अड़ोस-पड़ोस में कौन हैं, उसके पूर्व में क्या है, पश्चिम में क्या है, उत्तर में क्या है, दक्षिण में क्या है, वहां कौन-कौन से दर्शनीय व पर्यटन के स्थान हैं। हम अपने राजस्थान को जानें तो बहुत अच्छी बात होगी। राजस्थान का जो दक्षिणी भाग है, वह है उदयपुर। उदयपुर के आगे फिर और जाते हैं दक्षिण की तरफ तो बाँसवाड़ा, डूंगरपुर, फिर उससे लगता हुआ क्षेत्र गुजरात और मध्य प्रदेश। उदयपुर के निकट स्थित चित्तौड़ के नाम को तो सब जानते हैं, क्योंकि राणा प्रताप के नाम को जानते होंगे। राणा प्रताप हो गए, नहीं तो राजस्थानियों के पास में कोई गर्व करने के लिए कोई व्यक्ति नहीं रहता। वहाँ मीरांबाई हो गईं, वह भी दक्षिणी राजस्थान में चित्तौड़ में ही हुईं, पूरे विश्व भर में जानकारी हो गई राजस्थान की मीरांबाई की। आप देखिए ईसा के दो शताब्दी पूर्व चित्तौड़गढ़ के निकट कृष्ण उपासना के साक्ष्य मिलते हैं और फिर 15वीं-16वीं शताब्दी में कृष्ण की दीवानी मीरांबाई होती हैं वहाँ उसी जगह, उसी चित्तौड़ में। वस्तुतः मध्यकाल आते आते समस्त राजस्थान भागवत धर्म या कृष्ण उपासना से आप्लावित हो उठा।

इस अनुमान का तार्किक आधार है कि राजस्थान तीसरी चौथी शताब्दी ईसा पूर्व ही भागवत धर्म के सम्पर्क में आ गया था और फिर यहां इससे संबंधित दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का पुरातात्विक साक्ष्य मिला जो पूरे देश में सबसे पहला है जिसे नारायण वाटक कहा गया है। नारायण वाटक अभी भी मौजूद है, करीब 300 फीट लंबा और 150 फीट चौड़ा एक बाड़ा, उसको लोग अभी हाथी बाड़ा कहते हैं। हाथी बाड़ा इसलिए कि जब चित्तौड़ पर अकबर ने आक्रमण किया तो उसमें हाथियों को बाँधा गया, मतलब पड़ाव वहाँ डाला गया था चित्तौड़ से 16 किलोमीटर दूर। नारायण वाटक नाम भूल गए, यह तो अब पता चला कि यह नारायण वाटक है जो शिलालेख में लिखा हुआ है। डॉक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा जो राजस्थान के इतिहास लेखन के पितामह हैं, उन्होंने दोनों शिलालेखों को पढ़कर बताया। इसके बाद में मध्य प्रदेश के विदिशा में एक खंभा मिलता है, वह कनिंघम ने खोजा था, उसको खंभा बाबा के नाम से लोग पूजते थे, तेल सिंदूर चढ़ा कर। कनिंघम लिखते हैं कि दूसरी बार गए वहाँ तब उन गाँव वालों को समझाया, उनके हाथ जोड़े कि भाई हमको पढ़ लेने दो इस पर कुछ लिखा हुआ है। बड़ी मुश्किल से समझाया, पढ़ा तब जाकर पता चला कि वह किसी यूनानी राजा के दूत हेलिओडोरस से संबंधित है जो अपने आप को परम भागवत लिखता है। उस परम भागवत हेलिओडोरस ने इस गरुड़ स्तंभ की स्थापना की जो दूसरी शताब्दी का है। इस तरह राजस्थान से मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात में प्रवेश करता हुआ भागवत धर्म अद्भुत रूप से कर्नाटक और तमिलनाडु तक व्याप्त हो गया।

राजस्थान में चित्तौड़ में जो साक्ष्य मिले इसके बाद में एक बहुत बड़ी खोज हुई पश्चिमी राजस्थान में बीकानेर क्षेत्र में इटालियन शोधवेत्ता डॉ. एल. पी. टेसिटोरी द्वारा। भारतीय विद्या मंदिर एल. पी. टेसिटोरी साहब के किए हुए कामों से बहुत जुड़ा हुआ रहा है उनकी संपादित पुस्तकों को प्रकाशित किया। उनकी मूर्ति स्थापित करवाई म्यूजियम परिसर में।उन्होंने बीकानेर, गंगानगर और हनुमानगढ़ जिलों में पीर की थेड़ी, काली बंगा, पीली बंगा जो कि हड़प्पा कालीन सभ्यता के वहां शहर निकले खुदाई में, वहाँ से उन्हें गोवर्धन धारी कृष्ण की मूर्ति, गोपी से दान लेते कृष्ण एवं यशोदा कृति लिखी ऐसी मिट्टी की मूर्तियाँ वहाँ मिली जो बीकानेर संग्रहालय में संरक्षित हैं। ये सब तीसरी चौथी शताब्दी की हैं अर्थात यह गुप्त काल है। वह स्वयं को परमभागवत लिखने वाले चंद्रगुप्त, कुमार गुप्त, समुद्र गुप्त आदि सम्राटों का समय था। यह भागवत धर्म का अगला साक्ष्य राजस्थान में हमें प्राप्त होता है।

तीसरी चौथी शताब्दी के ही साक्ष्य मंडोर जोधपुर में प्राप्त होते हैं। मंडोर में एक ध्वस्त मंदिर पड़ा हुआ है उसके द्वार स्तंभ हैं, डॉक्टर दत्तात्रेय भंडारकर वेस्टर्न सर्किल में पुरातत्व विभाग का सर्वे कर रहे थे और पी. के. शाह उनके साथ थे, ये मिले थे। उनको तीसरी चौथी शताब्दी के हैं यानी गुप्त काल के हैं जो मंदिर के द्वार पर लगे हुए थे। इन आयताकार द्वार स्तम्भों पर पूरी कृष्ण लीला उकेरी गई है। कृष्ण-जन्म, बाल लीला, राक्षसों का वध वगैरह। आप चाहें तो जोधपुर में महाराजा सरदार सिंह संग्रहालय में इन्हें देख सकते हैं। अद्भुत साक्ष्य हैं ये।

इस क्रम में फिर 10वीं 11वीं शताब्दी के बाद के या उस समय के जो मंदिर हैं उनमें जगह-जगह कृष्ण लीला का जबरदस्त अंकन है, चाहे वह मंदिर कृष्ण का नहीं है, शिव का है, यहाँ तक कि जैन धर्म का भी है। जैसे आबू में गया मैं, तो वहां विमल शही मंदिर देखा तो उसमें कृष्ण लीला भी अंकित है ऊपर। मैं चकित हो गया, जैन मंदिर में और कोई लीला नहीं है, राम लीला या और कोई दूसरे देवता की नहीं है, केवल कृष्ण लीला है वहाँ पर। उल्लेखनीय है कि नेमीनाथ जैन तीर्थंकर 22वें, वे कृष्ण के मौसेरे भाई थे। जोधपुर के पास ओसियाँ है, जहाँ से ओसवाल जैनों की उत्पत्ति हुई है। इसी कारण से उनको ओसवाल कहा जाता है। वहाँ व्यापक रूप से राजपूत थे जो जैन धर्म में कन्वर्ट हुए और ओसवाल कहलाए। वहाँ के जो 10वीं, 11वीं, 12वीं शताब्दियों के सूर्य, विष्णु, देवी आदि के मंदिर हैं उनमें संपूर्ण कृष्ण लीला का अंकन है। मैं राजस्थान में खूब घूमा हूँ कभी यहाँ कभी वहाँ। तो, किराडू गया बाड़मेर के पास। किराडू में 10वीं 11वीं शताब्दी के प्राचीन मंदिर हैं, पाँच मंदिर अभी हैं, बाकी तो सब खंडहर हो गए, यहां के शिव और विष्णु के मंदिरों में

कृष्ण लीला के साथ-साथ राम लीला क़े प्रसंग भी उत्कीर्ण हैं।

एक जिज्ञासा ऐसी होती है कि राजस्थान में दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के वासुदेव-संकर्षण स्थाण्डिल नारायण वाटक के बाद 7वीं-8वीं शताब्दी से 14वीं-15वीं शताब्दी तक शिव, देवी, विष्णु के मंदिर तो मिलते हैं और उनमें कृष्ण लीला का उत्कीर्णन तो खूब मिलता है। परंतु श्रीकृष्ण का मंदिर नहीं मिलता, यहाँ प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि वैदिक ब्राह्मणों ने भागवत धर्म और दूसरी लौकिक आस्थाओं को अपनाया तो उन्हें, ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित प्रजापति के अवतारों (मत्स्य, कूर्म, वराह) का अनुकरण कर, एक तृतीय श्रेणी के वैदिक देवता विष्णु के अवतार घोषित कर अपनाया। इन विष्णु के अवतारों में प्रजापति के अवतारों को भी सम्मिलित कर लिया। इस तरह विष्णु के दस अवतार घोषित किए गए- मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध (जिनका नामोल्लेख मात्र मजबूरी में किया गया) और कल्कि (जो भविष्य में होगा और जो ब्राह्मणों की एक भ्रष्ट कल्पना है)। दूसरी तीसरी शताब्दी में बौद्ध मूर्तियाँ बनने लगी तो बाद में उनके अनुकरण पर ब्राह्मणीय देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगी। इस समय तक भागवत धर्म और अन्य लौकिक आस्थाओं को विष्णु में अंतर्युक्त किया जा चुका था। अतः केवल विष्णु की मूर्तियाँ बनी और उनके मंदिर बनने लगे। अपवाद स्वरूप वराह और नरसिंह के मंदिर बने। परंतु यह तथ्य उल्लेखनीय है कि मूल में भागवत धर्म (कृष्णोपासना) का ही वैष्णव धर्म में रूपांतरण हुआ था। अतः विष्णु की मूर्तियां वस्तुतः चतुर्भुज वासुदेव कृष्ण की मूर्तियां थी, जिन्हें द्वारका की द्वारकाधीश कृष्ण की चतुर्भुज मूर्ति से ठीक-ठीक समझा जा सकता है। इस तरह 14वीं-15वीं शताब्दी से पूर्व के जो केवल विष्णु मंदिर मिलते हैं वे वस्तुतः कृष्ण मंदिर ही हैं। अभी भी राजस्थान में ही नहीं अन्य प्रांतों में स्थित विष्णु मंदिरों में भी कृष्ण-भाव से पूजा-आराधना होती है। 16वी-17वीं शताब्दियों से श्रीकृष्ण की वंशीधर अथवा अन्य लीला स्वरूप मूर्तियां और उनके मंदिर बनने लगे और अब राजस्थान में कृष्ण-मंदिर सर्वाधिक हैं और सर्वाधिक पूज्य हैं।

16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राजस्थान में कृष्णोपासना की लोकप्रियता का स्वर्णकाल प्रारंभ हुआ जो अद्यतन निरंतर प्रभावशील है। इस काल के 17वीं को मैं मीरांयुग कहना चाहता हूं। क्योंकि यह अनन्य कृष्ण भक्त मीरांबाई के 1496 ई. में मेड़ता के राठौड़ राजकुल में जन्म और 1511 में राजस्थान के चित्तौड़ के महान सिसोदिया राजकुल में विवाहित होने और दो वर्ष में ही विधवा हो जाने से प्रारंभ होता है। हालांकि वह स्वयं को अखण्ड सुहागिन मानती थी क्योंकि उनका पति तो अजर-अमर है, 'जा के सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई'। अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के विरह में मीरां द्वारा रचित आत्मनिवेदन के पदों ने पूरे राजस्थान ही नहीं, आसपास के प्रांतों को भी कृष्ण-भक्ति में आप्लावित कर दिया। इस कालखण्ड को निस्संकोच कृष्ण भक्ति का स्वर्ण युग कहने का कारण यह भी है कि इसमें राजस्थान के उदयपुर, जोधपुर, मोड़ता, बीकानेर, जैसलमेर, किशनगढ़, जयपुर, अलवर, भरतपुर, बूंदी-कोटा, झालावाड़ इत्यादि सभी राज्यों के राजघरानों में कृष्ण भक्ति सर्वप्रमुख धार्मिक प्रवृत्ति बन गई थी। इसका बड़ा प्रमाण है, इस समय इन राजघरानों में निर्मित कृष्ण लीला के अनगिनत लघुचित्र एवं राजभवनों में चित्रित कृष्ण लीला विषयक भित्तिचित्र। राजघरानों में इस चित्रांकन के अलावा कृष्ण भक्ति संबंधी ग्रंथों श्रीमद्भागवत, गीत गोविन्द, रसिकप्रया, श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि की सचित्र प्रतियां तैयार करवाई। यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार राजस्थान के राजपूत राज्यों के निवासी भी कृष्ण भक्ति के प्रति अनुरक्त हो उठे। राजस्थान में इस समय कृष्ण भक्ति संबंधी विपुल साहित्य की रचना हुई जिसमें श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं का मनोहारी चित्रण हुआ। बीकानेर नरेश के लघु भ्राता पृथ्वीराज राठौड़ द्वारा भागवत पुराण के श्रीकृष्ण-रुक्मणी विवाह के प्रसंग को लेकर रचित प्रबंध काव्य ग्रंथ 'बेली कृष्ण रुक्मणी री' अत्यंत प्रसिद्ध एवं विद्वानों में आदरणीय हुआ। कृष्णलीला से संबंधित रचनाओं के अलावा राजस्थान के कई संतों ने श्रीकृष्ण के साक्षात ब्रह्म के रूप में आराधना के पदों की भी रचना की। उल्लेखनीय है कि कृष्ण विषयक राजस्थानी साहित्य में श्रीकृष्ण के साथ में रुक्मणी है,

राधा नहीं। हां, लोक साहित्य की हरजस विधा में कृष्ण, राधा, रुक्मणी, गूजरी को लेकर रसपूर्ण रचनाएं हुईं।

राजस्थान में कृष्ण भक्त सम्प्रदायों का प्रवेश 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही प्रारंभ हो गया था। सर्वप्राचीन कृष्ण भक्त सम्प्रदाय निम्बार्क की प्रधान पीठ की स्थापना अजमेर-किशनगढ़ के निकट सलेमाबाद में सन् 1500 ई. में हो चुकी थी। इस सम्प्रदाय में सर्वेश्वर श्रीकृष्ण शालिग्राम शिला के रूप में आराधनीय हैं। पश्चात 1669 ई. में मुगल बादशाह औरंगजेब द्वारा हिन्दू मंदिरों के ध्वस्त करने का फरमान जारी करने से आतंकित ब्रज मंडल के कई गोस्वामीगण अपनी अपनी आराध्य मूर्तियों को लेकर आश्रय की आकांक्षा से राजस्थान में आ गये और यहां के राजाओं ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया। परिणाम स्वरूप उदयपुर राज्य के सिंहाड़ ग्राम में पुष्टिमार्गीय प्रधान आराध्य श्रीनाथजी (गोवर्धननाथ), कांकरोली में द्वारकाधीश, कोटा में मथुरेशजी, कामां में पुष्टिमार्गीय दो घरों के ठाकुर और जयपुर में गौड़ीय चैतन्य सम्प्रदाय के गोविन्ददेवजी, गोपीनाथजी, राधा-दामोदर तथा करौली में मदनमोहनजी विराजमान हुए। गौड़ीय सम्प्रदाय के आगमन से श्रीकृष्ण के साथ राधा की मूर्तियां स्थापित होने लगी, अपवाद स्वरूप भरतपुर के एक मंदिर में तथा जयपुर में अभी निर्मित एक मंदिर में श्रीकृष्ण के साथ रुक्मणी विरजमान हैं। स्वतंत्रता के पश्चात भी इस्कॉन और अन्य सम्प्रदायों के मंदिरों का निर्माण जारी है। इन कृष्ण भक्त सम्प्रदायों के आगमन और उनके मंदिरों में लगभग नित्यप्रति होने वाले उत्सवों के कारण कृष्णोपासना राजस्थान की प्रधान धार्मिक प्रवृत्ति बन गया है। जयपुर को तो गुप्त वृन्दावन कहा जाता है। यह अपने आप में अद्‌भुत है कि एक श्रीकृष्ण ही हैं जिनके विविध नामों से राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में मंदिर हैं। पूर्वोक्त कृष्ण भक्त सम्प्रदायों के मंदिरों के अलावा चारभुजाजी, केशवराय, सांवरिया सेठ, जगदीशजी, रणछोड़राय, गोपालजी, श्याम, घनश्याम, बिहारीजी, गिरधारी, गोवर्धननाथ, मुकुन्दराय, राधारमण, कृष्ण इत्यादि नामों एवं ठाकुरजी नाम से अनगिनत मंदिर स्थित हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि जैसलमेर के निकट रूणीचा में स्थित राजस्थान-गुजरात में पूज्य प्रसिद्ध लोकदेवता रामदेवजी की श्रीकृष्ण के अवतार के रूप में तथा सीकर जिले के खाटू गाँव में स्थित पाण्डव भीम के पौत्र एवं घटोत्कच के पुत्र बर्बरीक के शीश को 'श्यामजी' नाम से पूजा जाता है।

पूर्व में मैंने लोक में पूज्य शिव को, वैदिक ब्राह्मणों द्वारा एक वैदिक देवता रुद्र से संस्तुत या एफिलेटेड कर मान्यता देने का उल्लेख किया है। कालांतर में लोक में अत्यंत लोकप्रिय हो रहे भागवत धर्म को स्वीकार कर मान्यता देने की समस्या वैदिक ब्राह्मणों के सामने आई, इसमें पूज्य श्री कृष्ण एवं अन्य लोक देवताओं को रुद्र से संस्तुत कर मान्यता नहीं दी जा सकती थी, क्योंकि ये लोक में व्याप्त वीरपूजा से संबंधित थे। इसके लिए उन वैदिक ब्राह्मणों ने अवतारवाद का उपयोग किया। वेदों के पश्चात रचित 'ब्राह्मण-गंथों में वैदिक तैंतीस कोटि (श्रेणी) देवताओं के अलावा एक और देवता प्रजापति अथवा ब्रह्मा को स्वीकार किया गया जो मूलतः असुरों के देवता थे, इससे वैदिक देवताओं की संख्या 34 हो गई। ब्राह्मण ग्रंथों में इस ब्रह्मा या प्रजापति के तीन अवतारों -मत्स्य, कच्छप, वराह का उल्लेख है। वैदिक ब्राह्मणों ने इस अवतारवाद का उपयोग भागवत धर्म को मान्य करने में किया। परंतु प्रजापति या ब्रह्मा वैदिक देवता नहीं थे अतः उनकी जगह ऋग्वेद के एक तृतीय श्रेणी के देवता विष्णु का उपयोग किया जो सूर्य का एक रूप है और जिसके ऋग्वेद में मात्र साढ़े तीन सूक्त हैं जिनमें विष्णु (सूर्य) द्वारा तीन पदों में आकाश को नाप लेने के उनके वीर कर्म का उल्लेख है। भागवत परंपरा के प्राचीन देवताओं वासुदेव एवं नारायण को इस विष्णु में अंतर्भुक्त कर ऐतिहासिक महानायक श्री कृष्ण को इस विष्णु का अवतार घोषित कर दिया, यह भागवत धर्म का वैष्णव धर्म में धर्मांतरण (कन्वर्जन) था। इस विष्णु-आधारित अवतारवाद में ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित प्रजापति के अवतारों तथा लोक में पूज्य अन्य वीरों को सम्मिलित कर लिया गया। इस तरह विष्णु के अवतार हो गए— मत्स्य, कूर्म (कच्छप), वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण तथा बौद्ध-धर्म के जबरदस्त प्रभाव-प्रसार एवं उसे प्राप्त राज्याश्रय से आतंकित होकर बुद्ध

को भी विष्णु का अवतार घोषित किया, हालांकि ये ब्राह्मण बुद्ध के प्रति घृणा रखते थे, अतः उन्हें कभी पूजा नहीं। इसी तरह इन ब्राह्मणों ने स्वयं को भविष्यद्रष्टा प्रतिपादित करने के लिए कल्कि नामक एक अवतार की हास्यापद कल्पना की जो भविष्य में कभी होना है। इस तरह विष्णु के दशावतार पुराण प्रसिद्ध हुए परंतु यहां दो बातें उल्लेखनीय हैं, एक तो यह कि इस विष्णु आधारित अवतारवाद का उपयोग मूलतः भागवत धर्म अथवा कृष्णोपासना को हस्तगत करने के लिए ब्राह्मणों ने किया था, फिर अन्य राम आदि लौकिक आस्थाओं का समावेश भी इसमें कर दिया गया। दूसरी यह कि प्राचीन वासुदेवक और नारायणीय धर्म ही बाद में भागवत धर्म के रूप में परिवर्तित हुए जिनके उपास्य देवता वासुदेव और फिर नारायण जिनका स्वरूप विशिष्टता के रूप चतुर्भुज है, ये दोनों फिर भागवत धर्म के रूप में विकसित हुए तो, इस नवीन धर्म के उपास्य कृष्ण का स्वरूप भी चतुर्भुज अभिकल्पित रहा। इसी प्रभाव से फिर विष्णु का स्वरूप भी चतुर्भुज ही अभिकल्पित हुआ। यह भ्रम है कि विष्णु चतुर्भुज हैं, मूलतः श्रीकृष्ण चतुर्भुज हैं। इसी से सभी प्राचीन एवं पूर्व-मध्यकालीन कृष्ण मंदिरों में वे चतुर्भुज स्वरूप विराजमान हैं जिनको विष्णु मंदिर कहा जाता है। इस दृष्टि से गुजरात के द्वारका व डाकोर के द्वारकाधीश मंदिर सुविदित है। राजस्थान में चार भुजानाथ (मेड़ता, गढबोर इत्यादि), रणछोड़राय (डूंगरपुर, जोधपुर आदि), द्वारकाधीश (जैसे कांकरोली), उदयपुर क्षेत्र के विष्णु मंदिर, जगदीश मंदिर इत्यादि हैं जो श्रीकृष्ण के चतुर्भुज स्वरूप के मंदिर हैं। दशावतारों में वामन, परशुराम, राम, बुद्ध, कल्कि की तो द्विभुज मूर्तियां ही मिलती हैं परंतु अन्य अवतारों की जो चतुर्भुज मूर्तियां भी मिलती हैं, तो केवल उनको विष्णु-अवतार प्रतिपादित करने के लिए। वस्तुतः अवतारवाद के अवतारी विष्णु, श्रीकृष्ण को अपदस्थ नहीं कर सके। श्रीकृष्ण वासुदेव, नारायण, ब्रह्म और भगवान हैं, अवतार नहीं अवतारी के रूप में पूज्य हैं। मध्यकाल के पूर्वार्द्ध (12वीं-15वीं शताब्दी) तक श्रीकृष्ण की पूजान्तर्गत विष्णुवाचक चतुर्भुज मूर्तियां मिलती हैं, तत्पश्चात इनकी द्विभुज मूर्तियां पूजान्तर्गत मिलने लगती हैं इससे पहले मंदिरों में अंकित कृष्णलीला में श्रीकृष्ण द्विभुज ही हैं। इसी कालखण्ड में कृष्ण भक्ति में, जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' काव्य के प्रभाव से राधा का प्रवेश हुआ, जबकि कृष्णलीला विषयक प्रधानग्रंथ श्रीमद्भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है, पश्चात राधा, कृष्ण के साथ पूजनीय हो गई। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध अर्थात 16वीं-17वीं शताब्दी से राजस्थान के राजघरानों में भागवत धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार परिलक्षित होता है। इस समय राजस्थान की विभिन्न रियासतों के राजा एवं राजपरिवार कृष्ण-भक्त होने लगे। इन रियासतों में कृष्ण-लीला विषयक हुआ पुष्कल चित्रांकन इसका प्रमाण है। इसके अंतर्गत विभिन्न राजपूत-राज्यों में कृष्णलीला विषयक लघुचित्रों का अम्बार लग गया, विशेषकर तब, जब बादशाह अकबर के समय से मुगल दरबार में कार्यरत चित्रकारों को 17वीं शताब्दी में औरंगजेब ने अपनी कट्टर मुस्लिम नीति के कारण दरबार से निकाल दिया, तब चित्रकारों के राजस्थान के राजपूत राज्यों में आश्रय लेने पर। इन चित्रों में श्रीकृष्ण, राधा एवं गोपियों के रस-रास, हास-विलास की प्रमुखता के साथ-साथ ब्रजस्थ कृष्ण-लीला के अन्य प्रसंग भी चित्रित हुए। लघुचित्रों के साथ-साथ श्रीमद्भागवत, गीत गोविंद (जयदेव कृत), रसिक प्रिया (कवि केशव कृत) इत्यादि कृष्ण विषयक ग्रंथों का चित्रण भी हुआ। राजस्थान में इस चित्रण की विभन्न राजपूत रियासतों की चित्र-शैलियां बन गई जैसे मेवाड़ (उदयपुर) शैली, जोधपुर शैली, बीकानेर शैली, किशनगढ़ शैली, कोटा-बूंदी शैली, जयपुर शैली इत्यादि।

राजस्थान में काव्य सृजन में भागवत धर्म अर्थात श्रीकृष्ण की उपस्थिति अभिभूत करती है। मध्ययुग की प्रारंभिक शताब्दियों (11-12वीं) में ही कृष्ण विषयक काव्य-सृजन के संकेत मिलने लगते हैं जो 15वीं-16वीं शताब्दियों में राजस्थानी भाषा में काव्य-सृजन की मुख्य प्रवृत्ति बन जाते हैं। जो 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक बनी रही। मध्ययुग के मध्य से, राजस्थान के विभिन्न राजपूत-राज्यों के राजघराने कृष्ण-भक्ति से आप्लावित हो उठे। परिणाम स्वरूप जगज-जगह चतुर्भुज श्रीकृष्ण

के मंदिरों का निर्माण हुआ तो साथ ही राजमहल कृष्ण-कृष्ण के कीर्तन से गुंजायमान हो उठे। इन राजघरानों के कई सदस्यों ने श्रीकृष्ण के प्रति अपनी अनुरक्ति को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी जो राजस्थान ही नहीं, अखिल भारतीय कृष्ण-काव्य सृजन की अमूल्य धरोहर है। प्राचीन काल से ही भागवत धर्म के साक्ष्य संजोए मेवाड़ के राजस्थान के सिरमौर राजघराने का चित्तौडगढ़ 16वीं शताब्दी में राजरानी मीरांबाई की अनन्य कृष्ण-भक्ति एवं उनके द्वारा अपने प्रियवर श्रीकृष्ण के प्रति रचित विरहजनित पीड़ा से उद्भासित आत्मनिवेदन परक पदों के गायन से राजस्थान कृष्णमय हो उठा। संपूर्ण भारतीय काव्य-जगत में मीरांबाई द्वारा रचित कृष्ण-भक्ति के पद अद्वितीय रचना-कर्म के रूप में आदृत है, यहां तक कि मीरांबाई राजस्थान की पहचान बन गई। इसी क्रम में बीकानेर राज्य के महाराजा रायसिंह के लघुभ्राता महाराज पृथ्वीराज राठौड़ का नाम अत्यंत आदर से उल्लेखनीय है जिनके द्वारा रचित प्रबंध काव्य 'वेलि कृस्न रुकमणी री' राजस्थान काव्य की उज्ज्वल मणि है, जिसे अन्य कवियों ने पाँचवें वेद की उपाधि से अलंकृत किया। इस काव्य कृति में श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण-रुक्मणि विवाह का, विभिन्न अलंकारों से सज्जित विभिन्न छंदों एवं हृदयहारी उद्भावनाओं से संवलित मनोहरी चित्रण किया गया है जिसमें राजस्थान की डिंगल भाषा का चरमोत्कर्ष लक्षित है। इसी तरह किशनगढ़ के महाराज सांवतसिंह, नागरीदास नाम से कृष्ण-भक्ति के पदों की रचना करते थे और इनकी खास प्रिय बनीठनीजी रसिकप्रिया नाम से पद रचना करती थीं। इस राजघराने में पीढियों तक कृष्ण भक्ति के पदों की रचना होती रही। आमेर-जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' ने हजारों कृष्ण भक्ति पदों की रचना की। यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार राजस्थान की जनता भी कृष्ण-भक्ति के प्रति अनुगत हो उठी। परिणाम स्वरूप राज परिवारों के अलावा कितने ही कृष्ण-भक्त कवियों एवं अन्याय कवियों ने श्रीकृष्ण-चरित्र के प्रसंगों को लेकर काव्य-रचना की और यह क्रम 15-16वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी के अंत तक जारी रहा। ईसरदास, नरहरिदास बारहठ, सांया झूला इत्यादि और आधुनिक काल में महावीर प्रसाद जोशी, गिरधारीसिंह परिहार, सत्यप्रकाश जोशी तक के कृष्ण-काव्य रचयिताओं की संख्या इतनी है कि उनका नाम मात्र ही लिखे जाये तो कई पृष्ठ भर जायेंगे। यह कृष्ण-काव्य राजस्थान की डिंगल और पिंगल (ब्रज मिश्रित डिंगल) एवं आधुनिक राजस्थानी भाषा में हैं। ये कृष्ण-काव्य श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण-चरित्र पर आधारित हैं जिनमें श्रीकृष्ण के साथ उनकी पत्नी रुक्मणी ही है, बाद में कृष्ण चरित्र में प्रक्षिप्त करदी गई राधा नहीं है। अपवाद स्वरूप एक दो रचनाओं में 'महाभारत' के महानायक श्रीकृष्ण हैं, तो श्री महावीर प्रसाद जोशी द्वारा ब्रजेश, मथुरेश और द्वारकेश के रूप में संपूर्ण कृष्ण-चरित्र को लेकर रचित महाकाव्य उल्लेखनीय है। कृष्ण-लीला के प्रसंगों को लेकर रचित काव्य के समानांतर ऐसी रचनाओं की संख्या भी खूब है जिनमें साक्षात ब्रह्म या भगवान स्वरूप श्रीकृष्ण के प्रति विनय है एवं सांसारिक बंधनों से छूटकारे के लिए निवेदन है। राजस्थान में कृष्ण-भक्ति का प्रभाव यहां तक व्याप्त रहा कि राजस्थान के विश्नोई एवं जसनाथी जैसे निराकार उपासक संत सम्प्रदायों में भी कृष्ण-भक्ति परक काव्य का सृजन हुआ। इसी तरह श्रीराम भक्त सहनजो बाई द्वारा रचित राम-काव्य में श्रीराम सरयु के तट पर श्रीकृष्ण की भांति रास करते दृष्टिगत होते हैं। इस प्रभाव के अंतर्गत रामावत संप्रदायों में एक रसिक संप्रदाय बन गया।

राजस्थान के लोक-साहित्य में श्रीकृष्ण की अत्यंत प्रिय एवं लगभग ऐकांतिक उपस्थिति, महिलाओं के सरल हृदय की सरस अपनत्व भरी अनुभूति से अन्वित होकर रोमांचित कर देती है। त्यौंहार गीतों एवं संस्कार गीतों, विशेषकर विवाह के गीतों में श्रीकृण एक प्रिय आदर्श उपमा के रूप में वर्णित हैं, परंतु हरजस (हरियश) विधा में तो वे छाये हुए हैं। इन हरजसों में वे एक तरफ आराध्य ठाकुर के रूप में हैं तो, अधिकतर में, इन हरजसों की निर्मात्री सरल हृदय महिलाओं के परिवारों जैसे ही कृष्ण भी एक परिवार वाले गृहस्थ हैं, बस उनके पास रहने को महल हैं, बीच-बीच में उनको अपनी गूजरी रानी पास उसकी झौंपड़ी में जाना होता है, जो वर्षा में टपकती है, तब दोनों बोरिए-बिस्तर लेकर राधा रानी के महल में शरण लेनी पड़ती है। महलों में राधा रानी के अलावा

रुक्मणी रानी है और सत्यभामा रानी है। कृष्ण गायें चराकर अपनी गृहस्थी का पालन करते हैं। राधा-रुक्मणी कुंए से पानी भरकर लाती हैं, चूल्हा-चौका कर रसोई बनाती हैं, गोबर थापकर थेपड़िया बनाती हैं। कृष्ण रुक्मणी को साड़ी या अन्य कोई वस्तु ला देते हैं और जब उसका पता राधा को चल जाता है तो बवाल खड़ा हो जाता है। बेचारे कृष्ण कैसे-जैसे रानियों के झगड़ों को शांत करते रहते हैं। इसी तरह सास-बहू (यशोदा-राधा) के झगड़ों को निपटाते हैं। इन हरजस काव्यों में श्रीकृष्ण की चार रानियां हैं, जिनमें से उनकी सबसे अधिक प्रिय राधा रानी है। इस तरह के प्रत्येक हरजस के अंत में हरजस को गाने-सुनने वाली को घर-वर प्राप्त होने अथवा सुख-संपत्ति प्राप्त होने एवं अंत में वैकुण्ठ-वास की फलश्रुति रहती है जिससे इन हरजसों को कृष्ण-भक्ति परक फलदायी स्वरूप मिल जाता है।

राजस्थान की व्रत-कथाओं में वासुदेव कृष्ण को हरि एवं नारायण कहकर उनको साक्षात परब्रह्म के रूप में स्मरण किया गया है। इन व्रत कथाओं में 'कृष्ण जन्माष्टमी का व्रत' उल्लेखनीय है जिसमें इस व्रत के माहात्म्य एवं इसके उद्यापन की विधि वर्णित है। राजस्थान में कृष्ण विषयक कई लोकवार्ताएं प्रचलित हैं जिनमें श्रीकृष्ण अभी भी भक्तरंजक व भक्तवत्सल लीलाएं करते दृष्टिगोचर होते हैं। वे गुजरात में कभी जूनागढ़ के नगर सेठ रहे कृष्णभक्त नरसीमेहता की लिखी हुण्डी को द्वारका में साँवल सेठ बनकर सिकार देते हैं, नरसी मेहता की बेटी नानी बाई की पुत्री के विवाह में छप्पन करोड़ का मायरा भरते हैं। अनन्य कृष्ण-भक्त मीरांबाई को उसका देवर राणा विक्रमसिंह मारने के लिए चरणामृत में विष मिलाकर भेजता है, मीरां पी जाती है परंतु कुछ नहीं होता, सांप पिटारा भेजता है तो पिटारे में सांप नौसरहार बन जाता है, राणा कहता है कृष्ण की मूर्ति के सम्मुख रखा दूध इसे पिलाओ नहीं तो मरने को तैयार हो जाओ, पलक झपकते कृष्ण दूध का कटोरा पी जाते हैं, मीरांबाई अपने जीवनकाल के अंतिम वर्षों में द्वारका जाकर रहने लगती है तो अपने अंतिम समय में द्वारकाधीश की मूर्ति में प्रवेश कर जाती है। एक गांव के कृष्ण-मंदिर के पुजारी बाबा को कार्यवश अन्यत्र जाना पड़ता है तो वे करमा बाई को सेवा पूजा संभला गए। दोपहर में खीचड़ा तैयार कर मूर्ति के समाने रखा, मूर्ति ने खाया ही नहीं, बस आँखें मूंद अपने घाघरे का परदा कर प्रतिज्ञा कर खड़ी हो गई और कह दिया कान्हा जब तक तुम नहीं खाओगे, मैं भी नहीं खाऊंगी। काफी देर बाद एक आँख को जरा-सा खोलकर देखा तो खुशी से उछल पड़ी कि अरे! कान्हा तो सारा खीचड़ा चट कर गया। एक वार्ता में एक गांव में एक किसान गृहस्थ की अत्यंत रूपवान लड़की रुक्मणी की चर्चा सुनकर कृष्ण बाजरे के सिट्टे बेचने वाले का रूप धारण कर पहुंच गये। सिट्टे खरीदने रुक्मणी बाहर आयी, सिट्टे को परख रही थी कि सिट्टे का एक तूंतड़ा (फूस का टुकड़ा) उछलकर उसकी एक आँख में घुस गया, आँख फूट गई। कोहराम मच गया, लोगों ने कहा अब इस काणी से कौन विवाह करेगा। इस पर सिट्टे बेचने वाले का रूप त्याग कर कृष्ण निज रूप में प्रकट हुए और कहा, 'मैं इससे विवाह करुंगा।' रुकमणी की आँख ठीक हो गई, बड़ी धूम-धाम से विवाह हुआ। जैसलमेर के निकट पोकरण के ठाकुर अजमलजी निस्संतान थे। एक दिन सुबह-सुबह किसी काम से गढ़ी के बाहर निकले तो, सामने आ रहा मेहतर एक तरफ खड़ा होकर बड़बड़ाया, 'कहाँ सुबह-सुबह निपूते के दर्शन हो गये'। संतानहीन अजमलजी ने सुन लिया, मन घायल हो गया। उसी समय प्रस्थान कर द्वारका चले गये, द्वारकाधीश से प्रार्थना करने लगे। मन शांत नहीं हुआ तो अपना जीवन समाप्त करने के उद्देश्य से समुद्र में प्रवेश कर गए। वहां श्रीकृष्ण प्रकट हुए और वरदान दिया कि मैं ही तुम्हारे घर जन्म लूंगा। अजमलजी खुशी-खुशी पोकरण आ गए। इस वरदान के फलस्वरूप अजमलजी के घर रामदेवजी का जन्म हुआ जो कृष्णावतार के रूप में लोक में पूज्य हुए। एक नगर के कृष्ण मंदिर के पुजारीजी प्रतिदिन रात्रि में ठाकुरजी को शयन कराते तब मूर्ति के पास चार लड्डू रखते थे ताकि रात को भूख लग जाए तो ठाकुर जीम लें। एक दिन रखना भूल गऐ, रात को भूख लग आई, सो अपने शृंगार में से सोने का कंगन लेकर हलवाई की दुकान पर पहुंच गए और सोने का कंगन देकर बदले में चार लड्डू ले आए। सुबह पुजारीजी ने सोने का कंगन गायब देखा, पुजारीजी ने हल्ला कर लोगों

को इकट्ठा कर लिया। हल्ला सुनकर हलवाई आया और कंगन देकर कहा, रात को मुझे दुकान बढाने में देरी हो गयी थी, तभी एक बालक आया और यह कंगन देकर चार लड्डू ले गया। लोग भाव-विह्वल होकर जयकारा कर उठे- बोलो कन्हैयालाल की जय!

लोक संस्कृति में त्यौंहारों का महत्वूर्ण स्थान है। जब कोई लोकानुष्ठान या लोकोत्सव सर्वव्यापी रूप धारण कर लेता है तो उसे त्यौंहार कहा जाता है। राजस्थान में श्रावणी तीज, रक्षाबंधन, दशहरा, दीपावली, होली व गणगौर त्यौंहार हैं, परंतु अब श्रीकृष्ण जन्माष्टमी की सर्वव्यापकता को देखकर, इसे भी त्यौंहार का दर्जा प्राप्त होने लगा है। भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को श्रीकृष्ण-जयंति पर राजस्थान के गाँव-गाँव, नगर-नगर के घरों में व्रत रखा जाता है, लड्डू गोपाल को विराजकर सजावट की जाती है, पंचामृत, पंजीरी एवं अन्य पकवान बनाए जाते हैं। अष्टमी को सारे दिन व्रत रख कर रात बारह बजे पूजा कर प्रसाद लेकर व्रत खोला जाता है। पालने में लड्डूगोपाल को झुलाया जाता है। कृष्ण मंदिरों में ही नहीं अन्य देवी-देवताओं के मंदिरों में भी कृष्ण-जन्माष्टमी का उत्सव मनाया जाता है। राजस्थान के कुछ प्रमुख स्थानों की बात करें तो सर्वप्रथम राजस्थान की राजधानी जयपुर उल्लेखनीय है, जहाँ कृष्ण मंदिरों की संख्या सर्वाधिक है और उनमें वृन्दावन से आई कृष्ण मूर्तियों की संख्या उल्लेखनीय है, इसी से जयपुर को गुप्त वृन्दावन अथवा दूसरा वृन्दावन कहा जाता है।

जयपुर में कृष्ण जन्मोत्सव की धूम-धाम भाद्रकृष्ण अष्टमी की दुपहर से ही प्रारम्भ हो जाती है। यहां के चौड़ा रास्ता स्थित राधा-दामोदर मंदिर तथा नाहरगढ़ पहाड़ पर स्थित चरण मंदिर में जन्माष्टमी का उत्सव दुपहर बारह बजे मनाया जाता है। चरण मंदिर में श्रीकृष्ण की मूर्ति नहीं चरण चिह्नों की पूजा होती है। जयपुर के मुख्य गोविंददेवजी मंदिर में तो भाद्रपद कृष्ण एकम से ही विशेष भजन कीर्तन, नृत्य नाट्य आदि होने लगते हैं। फिर धीरे-धीरे गोपीनाथजी, राधावल्लभ, कृष्ण-बिहारी, रुक्मणी-कृष्ण, श्रीकृष्ण भाया, कृष्ण-बलराम, अक्षय पात्र, इस्कॉन, जगत-शिरोमणि (कृष्ण-मीरां मंदिर), प्रणामी इत्यादि मंदिरों, विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक संस्थाओं एवं स्कूलों में भारी सजावट व झाँकियों के साथ कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सवों की झड़ी लग जाती है। अष्टमी के सायंकाल से रात्रि बारह बजे और फिर दो-तीन बजे तक पूरे शहर में विभिन्न मंदिरों में दर्शनार्थी भीड़ की रेलमपेल हो जाती है। राजस्थान के चित्तौड़गढ जिले में स्थित सांवलिया सेठ मंदिर में जन्माष्टमी का भारी उत्सव होता है। यह मंदिर प्रतिमाह करोड़ों के चढ़ावे के कारण देश के सर्वाधिक आय वाले मंदिरों में परिगणित होने लगा है। राजसमंद जिले में स्थित वल्लभीय पुष्टिमार्ग की प्रधान पीठ नाथद्वारा में श्रीनाथजी की हवेली में जन्माष्टमी पर भारी उत्सव होता है जहाँ गुजरात से भी बड़ी संख्या में श्रद्धालु आते हैं। भीड़ इतनी कि उसे नियंत्रित करने में पुलिस और मंदिर के निजी सुरक्षा-बल को भारी परिश्रम होता है। अष्टमी को दिन में लड्डू गोपाल की शोभायात्रा निकलती है। रात बारह बजे कृष्ण-जन्म पर इक्कीस बार तोप छोड़कर सलामी दी जाती है। नव प्रसूता जापायत यशोदा मैया के लिए केसर, कस्तुरी जैसी मूल्यवान सामग्री से निर्मित विशेष लड्डू का भोग अर्पित होता है जिसकी श्रद्धालुओं में भारी मांग रहती है। इस क्रम में चित्तौड़ का मीरां मंदिर, उदयपुर का जगदीश मंदिर, राजसमंद के द्वारकाधीश एवं गढबोर चारभुजा मंदिर, मेड़ता का चारभुजा मंदिर, जोधपुर का रणछोड़ राय मंदिर, नागौर का बंशीवाला मंदिर, बीकानेर का मुरनायक मंदिर, जैसलमेर का बिहारी मंदिर, बाड़मेर का मुकुन्द मंदिर, भरतपुर का बाँके बिहारी मंदिर, धोलपुर का मुचुकुन्द तीर्थ, अलवर का कृष्ण मंदिर, सीकर-झुन्झुनू के गोपीनाथजी मंदिर इत्यादि उल्लेखनीय हैं। झुंझुनू जिले के नरहड़ कस्बे में स्थित दरगाह में जन्माष्टमी पर खूब सजावट होती है और भारी मेला लगता है। जन्माष्टमी के दूसरे दिन नंदोत्सव पर कृष्ण जन्म की बधाइयां होती हैं, उछाल होती हैं। जयपुर में गोविंददेव नगर भ्रमण के लिए निकलते हैं। फिर एकादशी (जलझूलनी ग्यारस) को यशोदा मैया द्वारा जल पूजन (जलवा) होती जिसमें ठाकुरजी की डोल यात्रा एवं जलाशय में नौका विहार का आयोजन होता है।

राजस्थान को यह श्रेय प्राप्त है कि यहाँ सर्वाधिक कृष्ण-भक्त संप्रदायों के मंदिर स्थित हैं। इन संप्रदायों में

प्राचीन निम्बार्क संप्रदाय की प्रधान पीठ अजमेर के निकट किशनगढ़ के पास सलेमाबाद में स्थित है जिसकी स्थापना सन् 1500 ई. में हुई थी। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क 12वीं शताब्दी में ब्रजमंडल के गोवर्धन में निवास करते थे। इस सम्प्रदाय के आराध्य सर्वेश्वर कृष्ण हैं जिनका चनादाल जितना शालिग्राम स्वरूप मंदिर में विराजमान है। फिर इस सम्प्रदाय में कृष्ण-राधा की निकुंज सेवा प्रवर्तित हुई जिससे गर्भगृह में राधा-कृष्ण की मूर्तियां भी विराजमान हुई। सम्प्रदाय में कृष्ण-राधा, स्वामी-स्वामिनी हैं जो निकुंज में विराजे रहकर गोपियों द्वारा की जा रही प्रीति-सेवा का आनंद लेते हैं। सन् 1669 में कट्टर धर्मांध मुगल बादशाह, औरंगजेब ने हिन्दू मंदिरों-मूर्तियों को ध्वस्त करने का फरमान जारी किया। इसके अंतर्गत मथुरा स्थित कृष्ण जन्म-भूमि केशवराय मंदिर का विध्वंस हुआ तो, ब्रजमंडल में भगदड़ हो गई। बहुत से तो अपनी आराध्य मूर्तियों को जमीन में गाड़ कर भाग लिए। पुष्टिमार्गीय एवं गौड़ीय सम्प्रदायों के गोस्वामी गण अपनी-अपनी आराध्य मूर्तियों को लेकर आश्रय की आकांक्षा से राजपूत रियासतों की तरफ निकल पड़े, इन रियासतों को मिलाकर ही स्वतंत्रता के पश्चात राजस्थान प्रांत बना। गोवर्धन में स्थित पुष्टिमार्गीय प्रधान आराध्य श्रीनाथजी को उदयपुर के महाराणा राजसिंह ने आश्रय देकर उदयपुर राज्य के सिंहाड़ गाँव में विराजमान किया जो फिर नाथद्वारा नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी तरह पुष्टिमार्गीय द्वारकाधीश मूर्ति को महाराणा राजसिंह द्वारा कांकरोली में निर्मित राजसमंद झील के तट पर स्थापित किया गया। पुष्टिमार्ग के प्रधान आराध्य श्रीनाथजी के अलावा सात निधियों के सात घरों में से प्रथम घर मथुरेशजी को कोटा के महाराव ने कोटा में विराजमान करवाया। पाँचवीं-छठी निधियाँ कुछ समय जयपुर रहकर फिर बीकानेर के महाराजा रतनसिंह द्वारा बीकानेर में निर्मित रतन बिहारीजी मंदिर में रहकर फिर भरतपुर जिले के कामां (कामवन) ले जाकर विराजमान की गई। वृन्दावन के गौड़ीय सम्प्रदायों के गोस्वामियों का जयपुर के राजपरिवार से विशेष संपर्क था। अतः इस सम्प्रदाय के गोविन्ददेवजी, गोपीनाथजी, मदनमोहनजी, राधादामोदरजी आदि मूर्तियों को जयपुर में आश्रय मिला। गोविन्ददेवजी की मूर्ति को महाराजा जयसिंह ने राजमहल के परिसर में स्थापित करवाया। गोपीनाथजी और राधा-दामोदरजी पुरानी बस्ती और चौड़ा रास्ता में विराजमान हुए। मदनमोहनजी का विग्रह कुछ समय जयुपर राजमहल में रहा, फिर इसे महाराजा ने अपने बहनोई करोली नरेश को प्रदान कर दिया जिन्होंने करोली में मंदिर बनाकर इसकी स्थापना की।

17वीं शताब्दी में सिंध से आए श्रीकृष्ण-प्रणामी सम्प्रदाय का एक मंदिर मेड़ता में निर्मित हुआ। देश-विभाजन और स्वतंत्रता के पश्चात सिंध से स्थानांतरित हुए सिंधी समाज ने जयपुर में श्रीकृष्ण-प्रणामी सम्प्रदाय का भव्य मंदिर निर्मित करवाया। श्रीकृष्ण-प्रणामी मंदिर में श्रीकृष्ण की मूर्ति नहीं होती, अपितु मोर पंख एवं बाँसुरी पूजान्तर्गत रहती है। जयपुर में बंशीमलजी कृष्ण-भक्त विद्वान हुए। ये राधा की अष्ट सखियों में से प्रधान ललिता की, श्रीकृष्ण से मिलाने के माध्यम के रूप में आराधना करते थे। इनके अनुयायियों का जो सम्प्रदाय गठित हुआ उसे ललित सम्प्रदाय कहा जाने लगा। इसका मुख्य मंदिर जयपुर में है। 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में जयपुर क्षेत्र में स्वामी चरणदासजी हुए। ये शुकदेवजी और श्रीमद्भागवत को अपना गुरु मानते थे। इनके अनुयायियों से निर्मित सम्प्रदाय को चरणदासी के साथ-साथ शुक सम्प्रदाय भी कहा जाता है।

इस व्याख्यान के समापन में यह जानना भी रोचक होगा कि राजस्थान में कृष्ण-वंशज यादव क्षत्रियों के राज्य स्थापित हुए। भरतपुर जिले में बहज (जिसका मूल नाम श्रीकृष्ण के पौत्र वज्रनाभ के नाम पर वज्रनाभपुर था) नामक स्थान कृष्ण-पौत्र वज्रनाभ के मथुरा राज्य की राजधानी था, संभवतया वज्र नाम में वर्ण विपर्यक होकर ही वर्तमान व्रज का नामकरण हुआ। अभी कुछ समय पूर्व बहज में पुरातत्त्व विभाग द्वारा उत्खनन (खुदाई) हुआ जिसमें लगभग 5 मीटर की गहराई में 4500 वर्ष पूर्व के आवासीय साक्ष्य घर, बर्तन, कूप आदि मिले हैं जो कृष्ण-काल के हैं।

पुरातत्त्व विभाग ने बलराम-कृष्ण के मथुरा से उज्जैन संदीपनी आश्रम जाने का मार्ग चिह्निहत किया है जो पूर्वी-दक्षिणी राजस्थान के धोलपुर, कोटा, झालावाड़

होकर है। धोलपुर में मुचकुन्दतीर्थ है जहां पहाड़ की एक गुफा को वह स्थान माना जाता है जिसमें महाराज मुचकुन्द गहन निद्रा में सोये थे और यहीं रणछोड़ श्रीकृष्ण का पीछा कर रहे कालयवन की मृत्यु हुई थी। महाभारत में सरस्वती नदी के किनारे-किनारे बलराम की प्रस्रवण यात्रा का उल्लेख है। सरस्वती राजस्थान के वर्तमान जैसलमेर, हनुमानगढ़ होकर प्रवाहित थी। इसे इतिहासकारों ने बलराम-कृष्ण के द्वारका से पाण्डवों की राजधानी इन्द्रप्रस्थ (वतर्मान दिल्ली) एवं कुरुक्षेत्र जाने का मार्ग प्रतिपादित किया है। महाभारत में श्रीकृष्ण के सुभद्रा को इन्द्रप्रस्थ से द्वारका ले जाने का प्रसंग है जिसमें वे मरुभूमि होकर जाते हैं जहां मीठेरस से भरे फल (मतीरा) होते हैं। यहीं श्रीकृष्ण को ऋषि उतंक मिलते हैं जिनको वे, उनके चाहने पर यहाँ मेघों के आगमन का वर देते हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने श्रीकृष्ण के द्वारका से पांचाल वर्तमान कानपुर एवं हस्तिनापुर (वर्तमान मेरठ अलीगढ़ के बीच) जाने का मार्ग राजस्थान के आबू-सिरोही होकर प्रतिपादित किया है। श्रीकृष्ण के आबू पर्वत पर प्रवास की जनश्रुति भी है।

भरतपुर का जाट राजपरिवार स्वयं को कृष्ण-वंशज बताता है, इसके इष्ट आराध्य व्रजराज श्रीकृष्ण हैं। उपरोक्त बहज स्थित कृष्ण वंशजों की एक शाखा के राजस्थान के दौसा जिले में स्थित तिमनगढ़ पर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों में राज करने की जानकारी प्राप्त होती है। इस शाखा के शासकों के नामों की जानकारी वाला, डॉ. रामजीलाल कोली का शोधलेख मैंने 'वैचारिकी' शोध पत्रिका में प्रकाशित किया था। पश्चात इस शाखा ने मध्यकाल से वर्तमान तक राजस्थान के करौली राज्य पर शासन किया जिसके इष्ट मदनमोहनजी हैं। कृष्ण वंशज यादवों में कई शाखाएं विस्तृत हुई जिससे वर्तमान उत्तर प्रदेश के काशी एवं प्रयागराज तथा राजस्थान के देरावल इन यादवों के राज्य हुए। कृष्ण-वंशज यादवों की एक शाखा काबुल गंधार होते हुए मध्य तथा पश्चिम एशिया तक विस्तृत हुई। ये यादव कालांतर में इस्लाम में परिवर्तित हो गये। यादव चन्द्रवंशी हैं, अतः उनके पूज्य चन्द्र हैं और इनमें मौसी, बुआ की संतानों में वैवााहिक संबंध होते थे, ऐसा मुसलमानों में भी है। भारत भूमि से बाहर गए कृष्ण-वंशज यादवों में एक राजा गज की जानकारी मिलती है जिन्होंनें पांचवी शताब्दी ईस्वी में वर्तमान अफगानिस्तान में गजनी नामक नगर बसा कर गजनी राज्य की स्थापना की। सातवीं शताब्दी में गजनी के सिंहासन पर रावल भट्टी बैठे जिन्होंने अपने नाम पर भट्टी संवत प्रवर्तित किया जिसके उल्लेख वाले कई शिलालेख मिलते हैं। इन भट्टी के नाम पर उनके वंशज भट्टी या भाटी कहे जाने लगे। कालांतर में मुस्लिम आक्रमणों से तंग आकर भाटियों ने गजनी को छोड़ दिया और पश्चिमी राजस्थान में ददरेवा में अपना राज्य स्थापित किया। फिर कुछ समय लोद्रवा में रहने के बाद भाटी रावल जैसल ने बारहवीं शताब्दी में जैसलमेर नगर एवं राज्य की स्थापना की। यह राजवंश अभी भी अस्तित्व में है। भाटियों ने जैसलमेर से उत्तर में भटमेर दुर्ग का निर्माण करवाया जिसे अब हनुमानगढ़ कहा जाता है। इसी तरह पुगल राज्य की स्थापना की हुई जो बीकानेर के निकट है। भाटियों ने पंजाब में भी प्रसार किया और पटियाला तथा स्यालकोट राज्यों को हस्तगत किया। पटियाला राजवंश अभी भी अस्तित्व में है।

उपसंहार के रूप में यह कह देना पर्याप्त होगा कि राजस्थान में भागवत धर्म अथवा कृष्णोपासना राजस्थान की प्रमुख धार्मिक आस्था के रूप में उल्लेखनीय है जो यहाँ के पुरातत्त्व, चित्रांकन, साहित्य-लोकसाहित्य-लोक संस्कृति, यहां स्थित कृष्ण-मंदिरों एवं कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों के प्रकाश में स्पष्ट रूप से प्रमाणित है। धन्यवाद।

ईमेल : drbabulalsharma@gmail.com

मो. 9830836004

प्रस्तुति : सुप्रकाश बोस- रमेश ठाकुर

❑❑

सोच समझ वालों को थोड़ी नादानी दे मौला

प्रायः हम सब भली-भाँति सोच-समझकर ही हर कार्य करते हैं। करना भी चाहिए। यही सफलता का मूल मंत्र भी है। इसीलिए हर समझदार व्यक्ति किसी प्रश्न का उत्तर भी अच्छी तरह से सोच-विचार करने के उपरांत ही देता है। कहा गया है कि बिना बिचारे जो करे सो पाछे पछताय। बिलकुल ठीक कहा गया है। गोस्वामी तुलसीदास भी मानस के अयोध्याकांड में एक स्थान पर लिखते हैं कि अनुचित उचित काजु किछु होउ, समुझि करिअ भल कह सब कोउ। सहसा करि पाछें पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं। अर्थात् कोई भी काम हो यदि उचित अनुचित का विचार करके किया जाए तो सब कोई उसे अच्छा कहते हैं। वेदों में भी यही कहा गया है और विद्वज्जन भी यही कहते हैं कि जो बिना विचारे जल्दी में किसी कार्य को करते हैं वे बाद में पछताते हैं और ऐसे व्यक्तियों को बुद्धिमान नहीं कहा जाता।

क्या हम बुद्धिमान हैं अर्थात सचमुच सोच-समझकर ही हर कार्य करते हैं? हमारा प्रयास तो यही रहता है कि जल्दबाज़ी में कोई ऐसा कार्य न हो जाए जिससे लाभ के स्थान पर हानि हो जाए। या कोई ऐसी बात मुँह से न निकल जाए जिससे हमारी प्रतिष्ठा अथवा हमारे व्यवसाय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। हम अपनी प्रतिष्ठा व किसी भी कार्य के आर्थिक पहलू पर तो विचार करते हैं लेकिन क्या अपनी सोच-समझ के औचित्य-अनौचित्य पर भी विचार करते हैं? वास्तव में हम किसी भी चीज का व्यावहारिक पक्ष देखते हैं। तो क्या व्यावहारिकता बुरी बात है? व्यावहारिकता बुरी बात नहीं लेकिन जब हम जरूरत से ज्यादा व्यावहारिक हो जाते हैं तो हमारी सोच का नैतिक पक्ष उतना ही कमज़ोर हो जाता है। हम अंदर से उतने ही खोखले होते चले जाते हैं। व्यावहारिक होने के साथ-साथ ये भी अनिवार्य है कि हम उदात्त व सकारात्मक जीवन मूल्यों के पक्षधर भी रहें।

बहुत से ऐसे लोग मिल जाएँगे जो हर कार्य को बहुत सोच-समझकर ही करते हैं लेकिन उनकी सोच अथवा समझदारी किसी काम की नहीं होती। जो लोग अवैधानिक अथवा गलत कार्यों में लिप्त होते हैं वे भी अत्यंत सोच-समझकर ही हर कार्य करते हैं लेकिन उनकी सोच दूसरे व्यक्तियों, समाज व राष्ट्र के लिए घातक होती है। ऐसे लोगों की सोच-समझ केवल असंख्य बुराइयों को जन्म देती है। ऐसे तथाकथित समझदार लोग जो व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दूसरों को आर्थिक हानि अथवा मानसिक कष्ट पहुँचाने से बाज नहीं आते उनकी सोच के विषय में क्या कहें? ऐसी सोच वाले प्रगतिशील बच्चों की समझदारी के विषय में क्या कहा जाए जो कुछ निहित स्वार्थों के लिए बूढ़े माता-पिता को तड़पते हुए छोड़कर अन्यत्र जा बसते हैं। उन्हें परिवार व पोते-पोतियों के प्यार से वंचित करके उनका सर्वस्व छीन ले जाते हैं। उन

लोगों की समझदारी को क्या कहें जिनके लिए अपने प्रियजनों के आँसुओं की कोई क़ीमत नहीं होती और जिनके लिए सामाजिक मान्यताओं का कोई अर्थ अथवा महत्त्व नहीं होता।

यदि हम उचित-अनुचित की बात करें तो हर हाल में गलत का विरोध करना व सही का पक्ष लेना ही उचित माना जाता है लेकिन ऐसे अनेक व्यक्ति मिल जाएँगे, यदि उनको किसी व्यक्ति से संबंध बनाए रखने से किसी भी तरह का लाभ होता है तो वे उस व्यक्ति की गलत बातों का भी विरोध नहीं करते। ये व्यावहारिक होते हुए भी उचित नहीं कहा जा सकता लेकिन आज यही हो रहा है। गलत का विरोध न करना अथवा अपने हित के लिए गलत का समर्थन करना दोनों स्थितियाँ ही मनुष्यता के लिए घातक हैं। दूसरी ओर यदि हमें अन्यत्र कुछ अधिक आर्थिक लाभ होने की संभावना नजर आ रही होती है तो हम आत्मीय रिश्ते-नातों को भी भूल जाते हैं। भूल ही नहीं जाते तोड़ भी डालते हैं। पैसों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं आपसी संबंध और एक दूसरे पर विश्वास। और सबसे बड़ी बात तो ये है कि उचित निर्णय लेने अथवा सही बात कहने के लिए ज्यादा सोचने-समझने की जरूरत ही नहीं होती। सच बोलने और ईमानदारी के रास्ते पर चलने के लिए सोचना नहीं पड़ता।

आज हममें से अधिकतर व्यक्ति अधिकारों की बात तो करते हैं लेकिन कर्तव्यों की नहीं। अधिकारों के साथ कर्तव्य भी जुड़े होते हैं। लेनदारियाँ ही नहीं देनदारियाँ भी महत्त्वपूर्ण होती हैं। प्रतिबद्धता भी कोई चीज़ होती है। हम बहुत समझदार होते जा रहे हैं। हमें देनदारियाँ याद नहीं रहतीं। कोई याद दिलवाए तो कह देते हैं कि हमें पता नहीं था। हम कृतज्ञता नामक तत्त्व को भूलते जा रहे हैं। हमारे विकास में संपूर्ण समाज का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में जो योगदान है उसका हमें भान ही नहीं। यदि हमें उसका भान है भी तो हम उसे स्वीकार करने के बजाय उसे महत्त्वहीन व अपने काल्पनिक योगदान को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के विषय में चिंतन करने लग जाते हैं। हमारे अति समझदारी भरे निर्णयों का अन्य लोगों अथवा समाज पर क्या दुष्प्रभाव पड़ेगा हम कम ही सोचते हैं क्योंकि हम आत्मकेंद्रित होते जा रहे हैं।

यदि हमें बहुत अधिक सोच-समझकर बात करने अथवा व्यवहार करने की जरूरत नजर आ रही है तो इसका सीधा सा अर्थ है कि हमारा परस्पर विश्वास और हमारे आपसी संबंध खंडित हो चुके हैं अथवा खंडित होने के कगार पर हैं। बहुत अधिक सोच-समझकर बात करने अथवा व्यवहार करने का अर्थ है कि हम स्वाभाविकता का त्याग करके छल-कपट का आश्रय लेने जा रहे हैं। हमारे सोच-समझकर काम करने अथवा बात करने का कोई महत्त्व नहीं यदि उससे झूठ-फरेब का साम्राज्य प्रतिष्ठित होता है और हमारा आपसी विश्वास खंडित होता है। ऐसी समझदारी का कोई मूल्य नहीं जिससे घर-परिवार, समाज अथवा राष्ट्र विघटित होता है। हमारी ऐसी समझदारी जिससे हमारे बच्चों में हमसे भी ज्यादा ऐसी समझदारी विकसित हो जाए सचमुच बहुत भयानक है। ज्यादा समझदारी वास्तव में हमारे लिए अभिशाप के समान होती है। इस संदर्भ में निदा फाज़ली साहब का एक शेर याद आ रहा है- दो और दो का जोड़ हमेशा चार कहाँ होता है, सोच-समझ वालों को थोड़ी नादानी दे मौला।

जो हमेशा दो और दो चार के फेर में रहते हैं उनके निर्णयों को सही नहीं कहा जा सकता। घोर व्यावसायिकता व स्वार्थपरायणता से तटस्थ होकर ही हम सही निर्णय ले सकते हैं। इसके लिए ज्यादा समझदारी की जरूरत नहीं। दिन को दिन और रात को रात कहने के लिए क्या सचमुच सोचने-समझने की जरूरत होगी? मान लीजिए कि दिन में धूप खिली हुई है और कोई पूछे कि आज कैसा मौसम है तो इसका एक ही उत्तर होगा कि आज धूप खिली हुई है। इसमें सोचने की क्या बात है? जब कोई चीज़ पूरी तरह से स्पष्ट हो और हम बिना बात सोचें कि क्या जवाब देना है तो हम ग़लत नहीं बहुत ग़लत दिशा में जा रहे हैं। यह संकेत है कि हम ज़रूरत से ज्यादा समझदार हो रहे हैं इसलिए अब थोड़ा नादान अथवा

स्वाभाविक बनने का समय आ गया है।

इसका ये अर्थ बिलकुल नहीं कि हम सही दिशा में सोचना बंद कर दें। हम सही सोचें और ग़लत का स्पष्ट रूप से विरोध करें। जब हम सही सोच और स्पष्टता से बचना चाहते हैं तभी हम जरूरत से ज्यादा समझदारी का प्रदर्शन करने लगते हैं। हम अपनी अज्ञानता अथवा कमियों को छुपाने के लिए भी ज्यादा समझदारी की बातें करने लगे हैं। ये भी सच्चाई पर परदा डालने जैसी ही बात है। सच्चाई पर परदा डालने के लिए ही यदि हम भली-भाँति सोच-समझकर बातें करते हैं तो इसे कैसे महत्त्व दिया जा सकता है? यदि हम सच्चाई पर परदा डालने के बजाय उसे सरलता से स्वीकार कर लें तो इससे बड़ी समझदारी की बात हो ही नहीं सकती। लाभ अथवा हानि का आकलन व्यापार में किया जाता है संबंधों के निर्वहन में नहीं। यदि हम हर समय मात्र लाभ अथवा हानि के आकलन से ऊपर उठकर अपनी सोच और अपने आचरण की पवित्रता पर ध्यान दें तो हमारा जीवन सचमुच बहुत सुंदर हो जाए। इस सुंदर संसार के सभी व्यक्ति अपने हो जाएँ।

आज हमें जीवन के हर क्षेत्र में अधिक तथाकथित समझदार बनने की अपेक्षा थोड़ा नादान बनने की जरूरत है। बच्चों को हम नादान कह देते हैं क्योंकि वे बिना सोचे-समझे कि इसका क्या परिणाम होगा सच बोल देते हैं। ये नादानी नहीं सरलता व निष्कपटता है। बच्चों जैसा सरल व निष्कपट आचरण होने का अर्थ है हमें सबका स्नेह मिलेगा ही। हमारे लिए यही श्रेयस्कर होगा कि हम बच्चों की तरह नादान अर्थात सरल व निष्कपट बनने का प्रयास करें। वैसे इसमें प्रयास करने जैसी भी कोई बात नहीं। स्वाभाविकता के लिए किसी प्रकार के विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। अस्वाभाविक, ग़लत अथवा काल्पनिक तथ्यों को स्थापित करने के लिए ही अधिक प्रयास करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के प्रयासों में ही हमारी अधिकांश ऊर्जा का दुरुपयोग हो जाता है।

जो कम समझदार अथवा नादान व्यक्ति होता है उसकी ऊर्जा का दुरुपयोग नहीं होता क्योंकि वो एक दम से गलत को गलत और सही को सही कह देता है इसलिए हमें ज्यादा समझदार बनने की बजाय थोड़ा नादान अथवा सरल ही बने रहने की अत्यंत आवश्यकता है ताकि हमारी ऊर्जा का सही व सार्थक उपयोग हो सके। इसलिए सोच-समझकर लिए गए ऐसे निर्णयों का कोई मूल्य नहीं जिनके कारण हमारी ऊर्जा का दुरुपयोग हो और साथ ही सत्य का दम घुट जाए और असत्य प्रतिष्ठित हो जाए। हमारी सोच-समझ बस ऐसी हो जिससे उदात्त जीवन मूल्य प्रतिष्ठित हो सकें। यह तभी संभव है जब हमारी सोच केवल सकारात्मक हो। हम पक्षपातरहित होकर निडरतापूर्वक अपनी बात कहने का साहस जुटा पाएँ। इसके लिए अधिक समझदारी की जरूरत ही नहीं। मात्र थोड़ी सी नादानी अथवा सरलता ही इसके लिए पर्याप्त होगी।

सीताराम गुप्ता,
ए.डी. 106 सी., पीतमपुरा,
दिल्ली - 110034
मो. 9555622323
Email : srgupta54@yahoo.co.in

❑❑

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी. आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक- डॉ. बाबूलाल शर्मा।

भारतीय विद्या मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

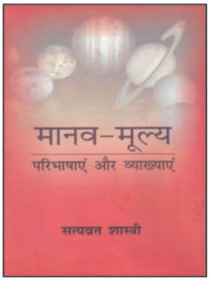

मानव मूल्य परिभाषाएं और व्याख्याएं
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 550/- पृ. सं. 304

गणगौर-गवरजा
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 400/- पृ. सं. 264

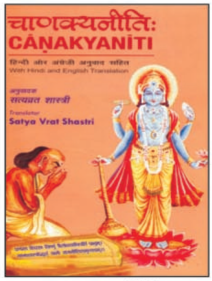

चाणक्यनीतिः
सत्यव्रत शास्त्री
मूल्य 295/- पृ.सं. 194

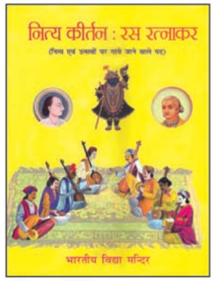

नित्य कीर्तन : रस रत्नाकर
मूल्य 900/-

मरुधरा के मोती
पुष्पा गोस्वामी
मूल्य 2250/- पृ.सं. 140

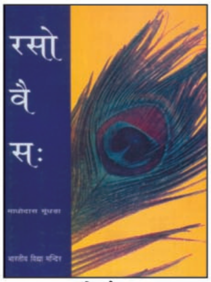

रसो वै सः
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 150/- पृ.सं. 165

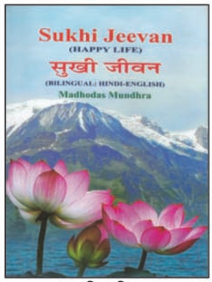

सुखी जीवन
माधोदास मूंधड़ा
मूल्य 275/- पृ. सं. 216

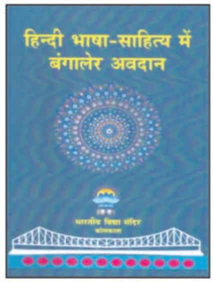

हिन्दी भाषा-साहित्य में बंगालेर अवदान
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 800/- पृ. सं. 352

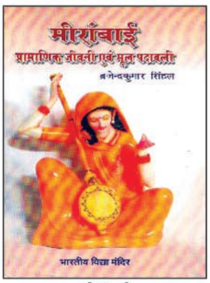

मीरांबाई
प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली
संपा. ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल
मूल्य 900/- पृ.सं. 584

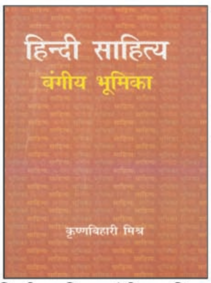

हिन्दी साहित्य बंगीय भूमिका
कृष्णबिहारी मिश्र
मूल्य 750/- पृ.सं. 551

श्रीरामकथा की कथा (प्रथम खण्ड)
आचार्य सोहनलाल रामरंग
मूल्य 600/- पृ. सं. 379

प्राचीन राजस्थान में वैष्णव धर्म
डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत
मूल्य 550/- पृ. सं. 287

विश्व की कालयात्रा
डॉ. वासुदेव पोद्दार
मूल्य 700/- पृ. सं. 409

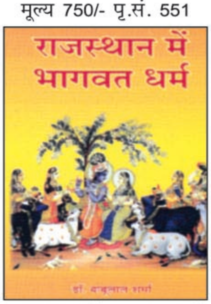

राजस्थान में भागवत धर्म
डॉ. बाबूलाल शर्मा
मूल्य 900/- पृ. सं. 468

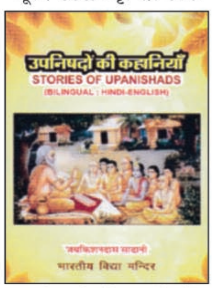

उपनिषदों की कहानियाँ
जयकिशन दास सदानी
मूल्य 400/- पृ. सं. 208

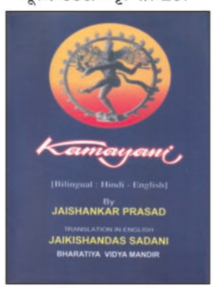

Kamayani
Tr. Jaikishandas Sadani
Price : Rs. 900/- Pages : 477

पुस्तकादेश हेतु संपर्क करें

शंकरलाल सोमानी, सिम्पलेक्स हाउस, 27, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-700 017 मोबाइल : 09830559364 ई-मेल : shankar.somani@simplexinfra.com

From
BHARATIYA VIDYA MANDIR
12/1, Nellie Sengupta Sarani
Kolkata - 700087 (W.B.)

TO

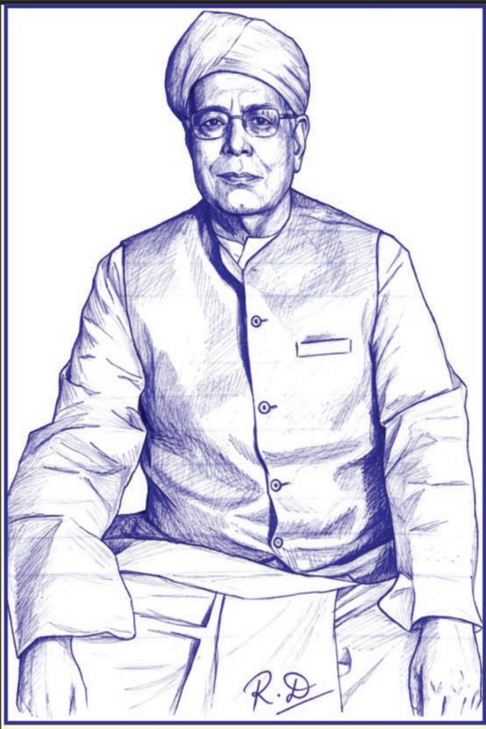

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा (संस्था अध्यक्ष-प्रधान संपादक) एवं धर्मपत्नी श्रीमती यमुना देवी मूंधड़ा (भारतीय विद्या मंदिर पुस्तकालय की संरक्षिका) के भारतीय परंपरागत पहनावे में इन दोनों का गरिमामय कलात्मक चित्र बनाकर प्रेषित किया है श्री राजेश दमानी (सुपुत्र श्री शिवकिशन दमानी वैचारिकी के वरिष्ठ पाठक)।

भारतीय विद्या मंदिर के अध्यक्ष, कंस्ट्रक्शन इंडस्ट्रीज डेवलपमेंट कौंसिल के सीनियर मेंटर डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा अपने दोनों प्रपौत्र को कौशल विकास प्रशिक्षण प्रदान करते हुए दायें से-आयुष्मान अभ्युदय मूंधड़ा सुपुत्र श्री अमिताभदास मूंधड़ा, बायें से-आयुष्मान श्रेयान मूंधड़ा सुपुत्र श्री राजीव मूंधड़ा।